श्री

गीता-माहात्म्य

शौनक उवाच

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ॥१॥

श्री शौनकजी बोले—हे सूतजी ! पहले किसी समय नारायणक्षेत्रमें श्री व्यासमुनिने जो गीताका माहात्म्य बताया था, उसे आप मुझसे ज्यों-का-त्यों कहिये ॥ १ ॥

सूत उवाच

भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततमं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥२॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥३॥
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं सङ्कीर्तयन्ति च ।
तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥४॥

सूतजीने कहा—आपने यह बहुत उत्तम मङ्गलमय प्रश्न किया है, किन्तु जो बहुत ही गुप्त है, उस परम उत्तम गीता-माहात्म्य का ठीक-ठीक वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ २ ॥ उसके माहात्म्यको ठीक ठीक तो भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं, उनके बाद कुन्तीपुत्र अर्जुन को कुछ-कुछ उसका ज्ञान है; इनके अतिरिक्त व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य मुनि और मिथिलानरेश जनक भी थोड़ा थोड़ा जानते हैं ॥३॥ इनके सिवा दूसरे लोग तो केवल कानोंसे सुनकर लेशमात्र ही वर्णन करते हैं । अतः मैं भी गुरुदेव श्रीव्यासजीके मुखसे सुने हुए इस गीता माहात्म्य का किञ्चिन्मात्र वर्णन कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥५॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥६॥
संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं यातु सुखेन सः ॥७॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥८॥
ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥९॥

सम्पूर्ण उपनिषद् गौएं हैं और गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहने वाले (ग्वाले) हैं, अर्जुन उन गौओंके बछड़े हैं तथा यह महत्त्वपूर्ण गीतारूप अमृत ही उसका दूध है और सुन्दर बुद्धिवाले विचारवान् पुरुष ही उस दूधका पान करने वाले हैं ॥ ५ ॥ जिन्होंने पूर्वकाल में अर्जुनके सारथिका काम करते हुए ही उन्हें गीतारूपी अमृत प्रदान किया और इस प्रकार तीनों लोकों का उपकार किया, उन परमात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥ ६ ॥ जो मनुष्य इस घोर संसार-समुद्रके पार होना चाहे, वह गीतारूपी नावका सहारा लेकर सुखपूर्वक इसके पार चला जाय ॥ ७ ॥ जो मूर्ख सदा ही अभ्यासमें लगे रहकर गीता-ज्ञान का श्रवण (और अनुभव) तो नहीं कर सका, किन्तु केवल उस अभ्यास योगके द्वारा ही मोक्षकी अभिलाषा रखता है, वह बच्चों का उपहासपात्र होता है ॥ ८ ॥ जो लोग दिनरात नियमपूर्वक गीताका पाठ और श्रवण करते ही रहते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये, वे देवतारूप हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हैं ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्तितत्त्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम् ॥१०॥
सोपानाष्टादशैरेवं भुक्तिमुक्तिसमुच्छ्रितैः ।
क्रमशः चित्तशुद्धिः स्यात्प्रेमभक्त्यादिकर्मसु ॥११॥

साधु गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्तिस्नानं वृथैव तत् ॥१२॥
गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मोघकर्मकरो भवेत् ॥१३॥
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् तस्य मानुषं देहं विज्ञानं कुलशीलताम् ॥१४॥

भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति गीता-ज्ञान के द्वारा सम्यक् बोध और भक्तिके उत्तम रहस्य का उपदेश किया तथा उसमें अपने सगुण-निर्गुण स्वरूपका विवेचन किया ॥ १० ॥ भोग और मोक्षकी प्राप्तिके उपदेशोंसे जो अत्यन्त ऊंची हैं, उन गीताके अठारह अध्यायरूपी अठारह सीढ़ियोंसे ही क्रमशः आगे बढ़कर प्रेमपूर्वक भगवद्भजन आदि कर्मों में लगनेसे चित्तशुद्धि होती है ॥११॥ (श्रद्धापूर्वक) गीतारूपी सरोवरके जलमें स्नान करना बहुत ही अच्छा है; क्योंकि वह संसार-मलको नष्ट करनेवाला है। परन्तु श्रद्धाहीन पुरुषके लिये यह कार्य हाथीके स्नान की भाँति व्यर्थ हीं है। (जैसे हाथी नहाने बाद अपने शरीर पर धूल डाल लेता है, जिससे उसे स्नान का लाभ नहीं मिलता उसी प्रकार श्रद्धाहीन के चित्तमें गीताके उपदेशका असर नहीं होता) ॥ १२ ॥ जो गीताका पाठ करना या कराना नहीं जानता, वही इस मनुष्यलोकमें व्यर्थ (जिनसे आत्माका कल्याण नहीं होता ऐसे) कर्म करनेवाला है ॥ १३ ॥ क्योंकि वह गीता नहीं जानता-अतः उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है, उसके मानव-देह, विज्ञान, कुल और शीलको धिक्कार है! ॥ १४ ॥

गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक्छरीरं शुभं शीलं विभवं तद्गृहाश्रमम् ॥१५॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् प्रारब्ध प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥१६॥
गीताशास्त्रे मतिर्नास्ति सर्वं तन्निष्फलं जगुः ।
धिक तस्य ज्ञानदातारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥१७॥

गीतार्थं पठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्भवम् ॥१८॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते ॥१९॥

जो गीताका अर्थ नहीं जानता, उससे बढ़कर नीच मनुष्य दूसरा कोई नहीं है ; उसके सुन्दर शरीर, अच्छे स्वभाव, वैभव और गृहस्थाश्रमको भी धिक्कार है ! ॥ १५ ॥ जिसे गीता-शास्त्रका ज्ञान नहीं है, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं है; उसके प्रारब्ध, प्रतिष्ठा, पूजा और बहुत बड़े सम्मान को भी धिक्कार है ! ॥ १६ ॥ गीताशास्त्रमें जिसकी बुद्धि नहीं लगती उसका उपर्युक्त सब कुछ निष्फल बताया गया है ; गीताके विरुद्ध ज्ञान देनेवाले गुरुको तथा उसके व्रत, निष्ठा, तप और यशको भी धिक्कार है ! ॥ १७ ॥ जिसके यहां गीताके अर्थका पठन-पाठन नहीं होता, उससे बढ़कर अधम मनुष्य दूसरा कोई नहीं हैं। जिस ज्ञानका गीता अनुमोदन नहीं करती, वह आसुरी प्रकृतिके लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है—ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥ वह (गीताविरुद्ध) ज्ञान वेदवेदान्तों द्वारा निन्दित, धर्मसे रहित और व्यर्थ है, इसी लिये सम्पूर्ण ज्ञानका उपदेश करनेवाली, समस्त शास्त्रोंकी सारभूत धर्ममयी एवं परम विशुद्ध होनेके कारण यह गीता ही सबसे बढ़कर है ॥ १९ ॥

योऽधीते विष्णुपर्वाहे गीतां श्रीहरिवासरे ।
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छत्रुभिर्न स हीयते ॥२०॥
शालग्रामशिलायां वा देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठन् गीतां सौभाग्यं लभते ध्रुवम् ॥२१॥
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानेन तज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥२२॥

गीताधीता च येनापि भक्तिभावेन चोत्तमा ।
वेदशास्त्रपुराणानि तेनाधीतानि सर्वशः ॥२३॥

जो वैष्णव-पर्वोंके दिन अथवा एकादशी आदिमें गीताका पाठ करता है तथा जो सोते-जागते, चलते, खड़े होते, सब समय में गीताका स्वाध्याय करता रहता है, वह लौकिक शत्रुओं तथा काम-क्रोधादि मानसिक वैरियोंसे भी पराभवको नहीं प्राप्त होता ॥२०॥ शालग्राम-शिलाके निकट, देवालय, शिवमन्दिर, और तीर्थमें अथवा नदीके तट पर गीता का पाठ करनेवाला मनुष्य अवश्य ही सौभाग्य प्राप्त करता है ॥ २१ ॥ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण गीताका पाठ करनेसे जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे वेदोंके स्वाध्याय, दान, यज्ञ और व्रत आदिसे भी नहीं होते ॥ २२ ॥ जिसने उत्तम गीताशास्त्रका भक्तिभावसे अध्ययन किया है उसने मानो सभी वेद, शास्त्र और पुराणोंका अध्ययन कर लिया ॥२३ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन् सिद्धिं परां लभेत् ॥२४॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥२५॥
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः परम् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥२६॥
गीतायाः पुस्तकं शुद्धं योऽर्पयत्येव सादरात् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य भार्या प्रिया भवेत् ॥२७॥
यशः सौभाग्यमारोग्यं लभते नात्र संशयः ।
दयितानां प्रियो भूत्वा परमं सुखमश्नुते ॥२८॥
अभिचारोद्भवं दुःखं वरशापागतं च यत् ।
नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥२९॥

तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिर्भवेत्क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नरकं न च ॥३०॥

योगियों के स्थान में, सिद्धपीठमें, शालग्राम-शिलाके सम्मुख, संतोंकी गोष्ठीमें, यज्ञमें तथा किसी विष्णुभक्त पुरुष के आगे गीताका पाठ करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है॥ २४ ॥ जो प्रतिदिन गीता का पाठ और श्रवण करता है, उसने मानो अश्वमेध आदि सभी यज्ञ दक्षिणा सहित सम्पन्न कर लिये॥ २५ ॥ जो गीताके अर्थका श्रवण करता है और जो दूसरों के सामने उसका वर्णन करता है तथा जो दूसरों के लिये गीता सुनाया करता है और वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जो विधिपूर्वक बड़े आदर-सत्कार और भक्तिभावसे गीताकी शुद्ध पुस्तक किसी विद्वानको केवल अर्पणमात्र करता है उसकी पत्नी सदा उसके अनुकूल रहती है ॥ २७ ॥ और वह यश, सौभाग्य एवं आरोग्य लाभ करता है तथा प्यारी पत्नी आदिका प्रेम भाजन होकर उत्तम सुख भोगता है— इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २८ ॥ जिस घरमें प्रतिदिन गीताकी पूजा होती है (शत्रु द्वारा किये हुए मारण उच्चाटन आदि) अभिचार-यज्ञों से प्राप्त हुए दुःख तथा किसी श्रेष्ठ पुरुष के शाप से होनेवाले कष्ट, उस घरके समीप ही नहीं जाते॥२९॥ इतना ही नहीं, वहां आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक- इन त्रिविध तापों से होनेबाली पीड़ा तथा रोग किसीको नहीं होते। शाप, पाप, दुर्गति और नरक का कष्ट भी किसी को नहीं भोगना पड़ता ॥३०॥

विस्फोटकादयो देहे न बाधन्ते कदाचन ।
लभेत् कृष्णपदे दास्यं भक्तिं चाव्यभिचारिणीम्॥३१॥
जायते सततं सख्यं सर्वजीवगणैः सह ।
प्रारब्धं भुञ्जतो वापि गीताभ्यासरतस्य च ॥३२॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ।
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत् ।
न किंचित् स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमम्भसा ॥३३॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥३४॥
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥३५॥
सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिगृह्य च सर्वशः।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥३६॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्याविधानतः।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥ ३७ ॥

जो गीता के अभ्यास में लगा रहता है, उसके शरीरमें चेचक के फोड़े आदि कभी बाधा नहीं पहुंचाते; वह भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में दासभाव तथा अनन्यभक्ति प्राप्त कर लेता है। प्रारब्धभोग करते हुए भी उसका सभी जीवोंके साथ सदा सख्य भाव बना रहता है ॥ ३१-३२ ॥ गीता का स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य यदि (कभी) महापातक आदि पाप भी कर बैठता है तो उन पापों से उसका कुछ भी स्पर्श नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता जलसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ३३ ॥ अनाचार, दुर्वचन (गाली आदि), अभक्ष्य-भक्षण तथा नहीं छूने योग्य वस्तुके स्पर्शसे होनेवाले, जानकर अथवा अनजान में किये हुए और प्रतिदिन इन्द्रियों द्वारा घटित होनेवाले जितने भी पाप हैं- वे सब-के-सब गीताका पाठ करने से तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥ जो सब जगह भोजन कर लेता है और सबसे दान लेता है, वह भी यदि गीता का पाठ करता है तो उन पापों से लिप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥ रत्नों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीको अविधिपूर्वक दान स्वीकार करके भी गीता का एक ही बार पाठ करने से मनुष्य सदा शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल बना रहता है॥३७॥

यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा।
स साग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पण्डितः॥३८॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि।
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥३९॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥४०॥
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा ।
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनो देहरक्षकाः ॥४१॥
गोपालो बालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः ।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥ ४२ ॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र भगवान् कृष्णो राधिकया सह ॥४३॥

जिसका चित्त सदा ही गीतामें रमा रहता है, वही अग्निहोत्री है, वही सदा मन्त्र-जप करनेवाला है और वही कर्मनिष्ठ एवं पंडित है ! ॥ ३८ ॥ वही दर्शनीय है, वही धनी है, वही योगी और ज्ञानवान है तथा वही यज्ञ करानेवाला यजमान और सम्पूर्ण वेदोंके अर्थका ज्ञाता है ॥३९॥ जहां गीता की पुस्तक रहती है तथा जहां गीताका नित्य पाठ होता रहता हैं, उस स्थान पर और पाठ करनेवाले के शरीरमें प्रयाग आदि सभी तीर्थ वास करते हैं। तथा जीवनकालमें सभी देवता, ऋषि और योगीजन उसके शरीर की रक्षा करते रहते हैं ॥ ४०-४१ ॥ जहां गीता-पाठ होता रहता है, वहां गोपालक भगवान् वालकृष्ण भी नारद ध्रुव आदि अपने पार्षदों के साथ शीघ्र ही सहायता के लिये उपस्थित हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ जहां गीता सम्बन्धी विचार और उसका पठन-पाठन होता रहता है वहां भगवान् श्रीकृष्ण श्री राधिका जीके साथ विराजमान हो अत्यन्त प्रसन्न होते हैं ॥ ४३ ॥

श्रीभगवानुवाच

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥४४॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥४५॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥४६॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्द्धमात्रा परा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥४७॥
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव ।
कीर्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात् ॥४८॥
गङ्गा गीता च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मवल्ली ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी ॥४९॥
अर्द्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥५०॥
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेन्नित्यं तथान्ते परमं पदम् ॥५१॥

श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम तत्त्व है, गीता मेरा अत्यन्त तेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है, गीता मेरा उत्तम स्थान है, गीता मेरा परमपद है, गीता मेरा परम गोपनीय रहस्य है और मेरी यह गीता (श्रद्धालु जिज्ञासुओं के लिये) अत्युत्तम गुरु है ॥४४—४५॥ मैं गीता के ही आश्रयमें रहता हूं, गीता मेरा उत्तम गृह है, गीता-ज्ञानका आश्रय लेकर मैं तीनों लोकों का पालन करता हूं ॥४६॥ इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि मेरी यह गीता परा विद्या एवं ब्रह्मस्वरूपिणी है; यह अर्धमात्रा, सर्वोत्कृष्ट तथा अनिर्वचनीयस्वरूपा है ॥४७॥ हे पाण्डुनन्दन अर्जुन ! अब मैं तुमसे गीताके गोपनीय नाम बताऊँगा, तुम ध्यान देकर सुनो। इन नामों का कीर्तन करने से सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥४८॥ [वे नाम ये हैं] गङ्गा, गीता, गायत्री, सीता, सत्या, सरस्वती, ब्रह्मवल्ली, ब्रह्मविद्या, त्रिसन्ध्या,

भुक्तिगेहिनी, अर्धमात्रा, चिदानन्दा, भवघ्नी, भ्रान्तिनाशिनी, वेदत्रयी, परानन्दा और तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥४९-५०॥ जो मनुष्य स्थिर चित्त होकर इन नामों का नित्य जप करता है, वह ज्ञानरूपी सिद्धिको प्राप्त कर लेता है और शरीरका अन्त होने पर परमपदको पाता है ॥५१॥

पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ॥ ५३ ॥
तथाध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम् ।
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥५४॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५५ ॥
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः ।
प्राप्नोति रविलोकं स मन्वन्तरसमाः शतम् ॥५६॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम् ।
त्रिद्वयेकमेकमर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतमं तथा ॥ ५७ ॥
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥५८॥
गीतार्थमपि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः ।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥५९॥

यदि कोई गीताका प्रतिदिन पूरा पाठ करनेमें असमर्थ हो तो उसे आधी गीता का पाठ कर लेना चाहिये, ऐसा करनेसे उसे नित्य गोदान करने का पुण्य प्राप्त होता है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५२॥ प्रतिदिन एक तिहाई गीता का पाठ करनेवाला मनुष्य सोमयाग का फल प्राप्त करता हैं। छठे अंशका नित्य पाठ करनेवाला मनुष्य गङ्गा स्नानका फल पाता है ॥५३॥ दो अध्यायों का नित्य-निरन्तर पाठ करनेवाला मनुष्य इन्द्रलोक को प्राप्त करता है और वहां निश्चितरूपसे एक कल्प तक निवास करता रहता है ॥५४॥ जो प्रतिदिन भक्तियुक्त होकर एक अध्याय का भी पाठ करता है, उसे रुद्रलोक प्राप्त होता है और बहां वह रुद्रका गण होकर चिरकालतक निवास करता है ॥५५॥ जो मनुष्य आधे या चौथाई अध्याय का भी नित्य पाठ करता है, वह सौ मन्वन्तर के वर्षों तक सूर्यलोकमें निवास प्राप्त करता है ॥५६॥ जो मनुष्य गीताके दस, सात, पांच, चार, तीन, दो, एक अथवा आधे श्लोकका भी नित्य पाठ करता है, वह दस हजार वर्षों तक चन्द्रलोक में निवास पाता है ॥ ५७ ॥ गीताके एक अध्याय एक श्लोक अथवा एक, पादके अर्थका स्मरण करते हुए देह त्याग करनेवाला मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ५८ ॥ जो मनुष्य अन्तकालमें गीताके अर्थ या मूलपाठ का भी श्रवण कर लेता है, वह महापातकसे युक्त होने पर भी मोक्षका भागी हो जाता है ॥५९ ॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः ।
स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ६० ॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ।
गीताभ्यासंपुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥६१॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तिमत् ।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात् ॥६२॥

जो गीताकी पुस्तक लिये हुए प्राणों को त्यागकर महाप्रस्थान करता है, वह वैकुण्ठधाम को प्राप्त होता और श्रीभगवान् विष्णु के साथ आनन्द भोगता है ॥६०॥ गीता का पाठ होते समय मरा हुआ जीव मरकर पुनः मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है और उसमें गीता का पुनः अभ्यास करके उत्तम मोक्ष गति को प्राप्त होता है; ॥६१॥ 'गीता' इस शब्द का उच्चारणमात्र करके मरनेवाला मनुष्य भी सद्गति को प्राप्त हो जाता है। सभी जगह जो-जो कर्म गीताका पाठ और उच्चस्वरसे कीर्तन करते हुए सम्पन्न किया जाता है, वह सारा कर्म दोष रहित होकर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है ॥६२॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति हि।
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गतिम ॥६३॥
गीतापाठेन सन्तुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः।
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६४ ॥
गीतापुस्तक दानं च धेनुपुच्छसमन्वितम्।
कृत्वा च तद्दिने सम्यक कृतार्थो जायते जनः ॥६५॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः प्रकरोति यः।
दत्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवम् ॥ ६६ ॥
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ ६७ ॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पमिताः समाः।
विष्णुलोकमवाप्यान्ते विष्णुना सह मोदते ॥ ६८॥
सम्यक्छ्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत।
तस्मै प्रीतः श्रीभगवान् ददाति मानसेप्सितम् ॥६९॥

जो श्राद्धमें पितरों के उद्देश्यसे गीता का पाठ करता है; उसके पितर सन्तुष्ट होकर नरकसे स्वर्गको चले जाते हैं ॥ ६३ ॥ श्राद्धमें तृप्त किये हुए पितृगण गींता पाठसे सन्तुष्ट होकर अपने पुत्रों को आशीर्वाद देते हुए ही पितृलोकको जाते हैं ॥ ६४ ॥ गाय की पूँछ सहित गीता की पुस्तक हाथमें ले सङ्कल्पपूर्वक उसका सम्यक् प्रकारसे दान करके मनुष्य उसी दिन कृतार्थ हो जाता है ॥ ६५ ॥ जो गीता की पुस्तक को सुवर्णसे मढ़कर उसे विद्वान् ब्राह्मण को दान देता है, उसका संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ६६ ॥ जो गीता की सौ पुस्तकें दान कर देता है वह पुनरावृत्तिसे रहित ब्रह्मधाम को प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥ गीता दानके प्रभावसे अन्तमें मनुष्य विष्णु लोक को पाकर वहां सात कल्प के बराबर बर्षोंतक भगवान्-विष्णु के साथ आनन्द पूर्वक रहता है ॥ ६८ ॥ जो गीता के अर्थको भली प्रकार सुनकर पुस्तकदान करता है उसपर प्रसन्न होकर श्रीभगवान् उसे मनो वाञ्छित वस्तु प्रदान करते हैं ॥ ६९ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न श्रृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम् ।
हस्तात्यक्त्वामृतं प्राप्तं स नरो विषमश्नुते ॥७०॥
जनः संसारदुःखार्तो गीताज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा भक्तिं सुखी भवेत्॥७१॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम ॥ ७२॥
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७३ ॥

हे अर्जुन ! जो ब्राह्मणादि चार वर्णों के अन्दर मानव शरीर धारण कर इस अमृतरूपिणी गीताका श्रवण और पाठ नहीं करता, वह मनुष्य मानो

मिले हुए अमृत को अपने हाथसे फेंककर विषभक्षण करता है ॥ ७० ॥ संसारके दुःखसे सन्तप्त हुए मनुष्यको चाहिये कि वह गीताका ज्ञान प्राप्त करे और इस जगत्में गीतामयी सुधाका पान करके भगवान् की भक्ति पाकर सुखी हो जाय ॥ ७१ ॥ जनक आदि बहुत-से राजालोग इस जगत् में गीताका आश्रय लेकर पापरहित परम पदको प्राप्त हो गये हैं ॥ ७२ ॥ गीता का अध्ययन करनेके विषयमें ऊँच-नीच मनुष्यों का कोई भेद नहीं है (इसके सभी समान रूपसे अधिकारी हैं) गीता सम्पूर्ण ज्ञानों में समान तथा ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७३ ॥

योऽभिमानेन गर्वेण गीतानिन्दां करोति च ।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७४ ॥
अहङ्कारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ।
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥७५॥
गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ।
स शूकरभवां योनिमनेकामधिगच्छति ॥ ७६ ॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ।
न तस्य सफलं किञ्चित् पठनं च वृथा भवेत् ॥७७॥
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ।
नैव तस्य फलं लोके प्रमत्तस्य यथा श्रमः ॥७८॥

जो अहंङ्कार और गर्वसे गीता की निंदा करता है, वह जब तक समस्त भूतों का प्रलय नहीं हो जाता तब तक घोर नरकमें पड़ा रहता है ॥ ७४ ॥ जो मूर्ख अहङ्कारवश गीताके अर्थका आदर नहीं करता, वह जबतक कल्प का अन्त न हो जाय तबतक कुम्भीपाकमें पकाया जाता है ॥ ७५ ॥ निकट ही कहे जानेवाले गीताके अर्थको जो नहीं सुनता, वह अनेकों बार सूअरकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ७६ ॥ जो गीता की पुस्तक कहीं से चोरी करके लाता है

उसका कुछ भी सफल नहीं होता, उसका गीता-पाठ व्यर्थ होता है ॥ ७७ ॥ जो गीता का अर्थ सुन कर वस्तुतः प्रसन्न नहीं होता, उसके अध्ययनका इस जगत् में कोई फल नहीं है, पागलकी भाँति उसे खाली परिश्रम ही होता है ॥ ७८ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च भोज्यं पट्टाम्बरं तथा ।
निवेदयेत् प्रदानार्थं प्रीतये परमात्मनः ॥ ७९ ॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान् हरिः ॥८०॥

गीता सुनकर परमात्मा की प्रसन्नता के लिये दान करनेके उद्देश्यसे वाचक को सोना; उत्तम भोजन और रेशमी वस्त्र अर्पण करने चाहिये ॥ ७९ ॥ "भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हों" इस उद्देश्यसे द्रव्य और वस्त्र आदि भाँति-भाँति के अनेकों उपकरणों द्वारा प्रसन्नतापूर्वक भक्ति-भावसे वाचक की पूजा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

सूत उवाच

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ।
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥८१॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ ८२ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव परमां गतिमाप्नुयात् ॥८३॥
श्रुत्वा गीतामर्थयुक्तां माहात्म्यं यः शृणोति च ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेत् सर्वसुखावहम् ॥ ८४ ॥

सूतजी बोले—भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कहे हुए इस-प्राचीन गीता-माहात्म्य को जो गीता के अन्तमें पढ़ता है, वह उपर्युक्त समस्त फलों का भागी होता है ॥ ८१ ॥ जो गीता पढ़कर मांहात्म्य का पाठ नहीं करता उसके गीतापाठका फल व्यर्थ एवं परिश्रम-मात्र बताया गया है ॥ ८२ ॥ जो इस माहात्म्य के सहित गीता का पाठ करता है अथवा जो श्रद्धापूर्वक श्रवण ही करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥ जो अर्थसहित गीताका श्रवण करके फिर इस माहात्म्यको सुनता है, उसके पुण्य का फल इस जगत्में सबको सुख देनेवाला होता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीवैष्णवीयतन्त्रसारे श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

(गीता तत्वांक से)



॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

श्रीकृष्ण-विज्ञान

श्रीमद्भगवद्गीता मूल, हिन्दी पद्यानुवाद

और

भाषा टीका सहित

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

पुण्य-भुमिमय कुरुक्षेत्रमें रण-इच्छासे हो एकत्र ।
मेरे और पाण्डुपुत्रोंने संजय ! कहो किया क्या तत्र ? ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोला, हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥१॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

व्यूह रचे तैयार देखकर पाण्डवसेनाको उस काल ।
द्रोणाचार्य निकट जाकर यों बोले दुर्योधन भूपाल ॥ २ ॥

इसपर संजय बोला, उस समय राजा दुर्योधनने व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह बचन कहा ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
ब्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! देखिये उनकी बृहत् सैन्यका कैसा साज ।
सजा, आपके बुद्धिमान उस शिष्य द्रुपदसुतने यह आज ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा ब्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इसमें शूर, धनुर्धर भारी अर्जुन, भीम सरीखे वीर ।
हैं युयुधान, विराट, द्रुपद सब महारथी ये अति रणधीर ॥ ४ ॥

इस सेनामें बड़े-२ धनुषोंवाले युद्धमें भीम और अर्जुन के समान बहुतसे शूरबीर हैं । जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्टकेतु है, चेकितान भी, काशिराज बलवीर्य-निकेत ।
पुरुजित कुन्तिभोज योधा है नरपुङ्गव नृप शैब्य समेत ॥ ५॥

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥५॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

युधामन्यु इस भाँति वीर-वर, उत्तमौज है वीर्य-निधान ।
द्रौपदेय, सौभद्र तथा हैं महारथी सब बलकी खान ॥ ६॥

और पराक्रमी युद्धामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों पुत्र यह सब ही महारथी हैं ॥६॥

अस्माकंतु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे द्विजवर ! अपनी सेनामें मुख्य वीर जो हैं रणदक्ष।
ध्यान-युक्त हो सुनिये उनके नाम आपके कहुँ समक्ष ॥७॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षमें भी जो जो प्रधान हैं, उनकों आप समझ लीजिये, आपके जाननेके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं उनको कहता हूं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप, भीष्म हैं, कर्ण वीर है, कृपाचार्य बलमें भरपूर।
अश्वत्थामा है, विकर्ण है, सोमदत्तका सुत अति शूर ॥८॥

एक तो स्वयं आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और—संग्रामविजैयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

और वीर भी देनेको निज प्राणोंतक तैयार मदर्थ।
हैं नानाविध शस्त्रकलामें निपुण, सकल रण बीच समर्थ ॥९॥

तथा और भी बहुतसे शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रअस्त्रोंसे युक्त मेरे लिये जीवनकी आशाको त्यागनेवाले सब के सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्मपितामहसे रक्षित भी अपर्याप्त है सैन्य स्वकीय।
भीम मात्रसे परिरक्षित वह सुपर्याप्त है बल परकीय ॥१०॥

और भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

सब अयनोंमें निज नियुक्ति अनुसार ठहर करके रणधीर ।
एक भीष्मकी रक्षा करिये मिलकर सभी ओरसे वीर ॥११॥

इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब के सब ही निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

नृपको करते मुदित, प्रतापी भीष्मपितामहने उस काल।
सिंहनाद कर ऊँचे स्वरसे फूंका अपना शंख विशाल ॥१२॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यसे कहते हुए दुर्योधनके बचनोंको सुनकर कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधन के हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वरसे सिंहकी नादके समान गर्जकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

आनक, गोमुख, पणव, भेरियां बजने लगे शंख अतिघोर।
सहसा इनका शब्द भयानक लगा गूँजने चारों ओर ॥१३॥

उसके उपरान्त शङ्ख और नगाड़े तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे, उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

श्वेत अश्वयुत भारी रथमें बैठे हुए पार्थ, यदुनाथ ।
अपने अपने दिव्य शंखको लगे बजाने दोनों साथ ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौन्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेश ले पाञ्चजन्य को, देवदत्त ले अर्जुन वीर ।
भीम भयंकर पौंड्रशंखको लगा बजाने अति गंभीर ॥१५॥

उनमें श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख और अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया, भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

शंख अनन्तविजयको फूंका भूप युधिष्ठिरने कर रोष ।
चौथे पाण्डवने मणिपुष्पक और नकुलने शंख सुघोष ।१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक शङ्ख और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुस्पक नामवाले शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

महा धनुर्धर काशिराज फिर वीर शिखण्डी अति बलवान।
धृष्टद्युम्न, विराट, महाभट सात्यकि आदि अजेय महान॥१७॥

श्रेष्ठ धनुषवाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१८॥

द्रुपद द्रौपदीतनय तथा सौभद्र वीर भी हे भूपाल!।
लगे बजाने पृथक् पृथक् ये अपने अपने शंख विशाल॥१८।

तथा राजा द्रुपद और द्रौपदीके पांचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने हे राजन्! अलगअलग शङ्ख बजाये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥

उस गंभीर शब्दने कौरवहृदयोंको कर दिया विदीर्ण।
और गूँजकर तुमुल हुआ वह भू-नभको कर गया प्रतीर्ण॥१९॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥

फिर कौरवगणको अर्जुनने देख व्यवस्थासे उस काल।
[illegible] पाण्डव विशाल॥२०॥

इस प्रकारसे हृषीकेशको कहने लगा धनंजय वीर।
दोनों दलके बीच हमारा रथ ले चलिये हे रणधीर! ॥२१॥

हे राजन्! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुनने खड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंको देखकर उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा, हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये ॥ २०-२१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जबतक देखूँ इन वीरों को युद्ध हेतु जो आये आज।
और साथमें किनके मुझको लड़ना होगा हे यदुराज! ॥२२॥

जबतक में इन स्थित हुए युद्धकी कामनावालोंको अच्छी प्रकार देख लूं कि, इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन किनके साथ युद्ध करना योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्मति दुर्योधनके हितमें रत हो करके जो बलवान!।
रणक्षेत्रमें हुए इकट्ठे उन्हें देख लूँ मैं भगवान! ॥२३॥

और दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें कल्याण चाहनेवाले जो राजा इस सेनामें आये हैं, उन को मैं देखूंगा ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

अर्जुनके ऐसा कहनेपर हृषीकेश तब हे भूपाल ! ।
उत्तम रथको दोनों दलके बीच खड़ा करके उस काल ॥२४॥
भीष्म द्रोणादिक वीरोंके सन्मुख बोले फिर यह बात ।
एकत्रित इस कौरव दलको अब अवलोकन करले तात ! ॥२५॥

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने और संपूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खडा करके ऐसे कहा कि, हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख ॥२४-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखीन्स्तथा॥२६॥

तब अर्जुन उस युद्धभूमिमें बूढ़े बड़े और आचार्य ।
मामा, भाई, पुत्र, पौत्रगण, प्रियजन तथा मित्रगण आर्य ॥२६॥

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित हुए पिताके भाइयोंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामोंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंकोभी देखा ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयःसर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥

श्वशुर और सब सुहृदोंको भी दोनों दलमें खड़े निहार ।
हैं जितने सब बन्धु हमारे ऐसा निश्चय मनमें धार ॥२७॥

इस प्रकार उन खड़े हुए संपूर्ण बन्धुओंको देखकर वह अत्यन्त करुणासे युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला ॥ २७ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

अति करुणासे व्याप्त खिन्न-मन होकर बोला वचन विशाल ।
युद्ध-हेतु इन सब स्वजनोंको देख इकट्ठे कृष्ण ! कृपाल ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अँग शिथिल होते हैं मेरे सूख रहा मुख हे भगवान !
सब शरीरमें हुई कँपकँपी और हुआ रोमाञ्च महान ॥ २९ ॥

हे कृष्ण ! इस युद्धकी इच्छावाले खड़े हुए स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्च होता है ॥ २८—२९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गिरता है गांडीव हाथसे अँगोंमें है दाह विचित्र ।
मन मेरा चक्कर सा खाता खड़ा नहीं रह सकता मित्र ॥३०॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिरता जाता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूं ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

केशव ? शकुन दिखाई पड़ते उलटे मुझको सर्व प्रकार ।
नहीं देखता श्रेय कभी मैं इन स्वजनोंको रणमें मार ॥३१॥

और हे केशव ! लक्षणोंको मैं विपरीत ही देखता हूं तथा युद्धमें अपने कुलको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

इच्छा नहीं राज्यकी, जयकी, नहीं चाहिये सुखका भोग ।
राज्य-भोग या जीवनके भी रखनेका है क्या उपयोग ? ॥३२॥

और हे कृष्ण ! मैं विजयको नहीं चाहता और राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता । हे गोविन्द ! हमें राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा भोगोंसे और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है । ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

इच्छा नहीं राज्यकी, सुखकी, भोगोंको भी जिनके अर्थ ।
वे ही लड़नेको आये हैं जीवन, धन—आशा तज व्यर्थ ॥३३॥

क्योंकि हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं वे ही यह सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें लड़नेको खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसंबन्धिनस्तथा ॥३४॥

बूढ़े, बड़े और सुत सारे दादा चचा और आचार्य ।
मामा, साले, श्वशुर, पौत्र हैं और सभी सम्बन्धी आर्य ॥३४॥

जो कि, गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी हैं ॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

ये मारैं चाहे मुझको पर मैं न करूँगा इनपर घात।
राज्य मिले त्रिभुवनका तो भी, पृथ्वीकी फिर क्या है बात ?॥३५॥

इसलिये हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीन लोकके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथिवीके लिये तो कहना ही क्या है ॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

इन्हें मारकर कौन हमारा ऐसा हित होगा भगवान ? ।
आततायि हैं तोभी इनकी हत्यासे है पाप महान ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इससे हमको उचित नहीं है इन्हें मारना हे जगदीश।
निज स्वजनोंको मार सुखी हम कैसे हो सकते हैं ईश ? ॥३७॥

इससे हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि होकर लोभविवश ये नहीं देखते अपने आप।
क्या है दोष कुलक्षयसे फिर मित्रद्रोहमें कितना पाप ॥ ३८ ॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए यह लोग कुलके नाशकृत

दोषको और मित्रोंके साथ विरोध करनेमें पापको नहीं देखते हैं ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

जब कि कुलक्षयजन्य दोषका पूर्ण हो रहा हमको ज्ञान ।
तो फिर इससे बचनेकी हम क्यों न बिचारेंगे भगवान ॥३९॥

परन्तु हे जनार्दन ! कुलके नाश करनेसे होते हुए दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलके क्षयसे मिट जाता है धर्म सनातन अपने आप ।
धर्मनाशसे सारे कुलमें बढ़ जाता है भारी पाप ॥४०॥

क्योंकि कुलके नाश होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश होनेसे संपूर्ण कुलको पाप भी बहुत दबा लेता है ॥४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

पापबृद्धिसे कुलस्त्रियाँ सब हो जाती हैं भ्रष्ट निदान ।
दूषित हुई नारियाँ वे फिर जनैं बर्णसंकर सन्तान ॥४१॥

तथा हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

संकरतासे निश्चय ही वे गिरैं नरकमें कुलके साथ ।
पिंड-दानके लोप हुएसे पितर पतित हो जाते, नाथ ॥४२॥

और वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है, लोप हुए पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरलोग भी गिर जाते हैं ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥

कुलघातकके संकर-कारक इन दोषोंसे ही यदुनाथ ।
धर्म-सनातन जाति-धर्म कुल-धर्म बिगड़ते हैं सब साथ ॥४३॥

और इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातितोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हम ऐसा सुनते हैं जिनका नष्ट हुआ कुल-धर्म नितान्त ।
उनका निश्चय ही होता है बास नरकमें जग-प्रलयान्त॥४४॥

तथा हे जनार्दन ! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्योंका अनन्त कालतक नरकमें वास होता है ऐसा हमने सुना है ॥४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

हाय ! हुए हैं उद्यत हम सब बन्धुवर्गका करने घात ।
सुख-साम्राज्य लोभसे; कैसा पातक, महा खेदकी बात ॥४५॥

अहो ! शोक है कि, हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हुए हैं, जो कि, राज्य और सुखके लोभसे अपने कुलको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ॥४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

बिना किये ही प्रतीकारके यदि निशस्त्र मुझको, दे बाण ।
कौरब रणके बीच मार दें, तो मेरा होवे कल्याण ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवालेको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मारें तो वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा ॥४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार भाषण कर रणमें शोकव्यथित हो अर्जुन वीर ।
बैठ गया रथमें कुछ हटकर छोड़ हाथसे निज धनु-तीर ॥४७॥

संजय बोला कि, रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रु पूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

इस प्रकार करुणायुत, व्याकुल, अश्रु-परिप्लुत नयन विशाल ।
उस बिषण्ण—मन अर्जुनसे तब ऐसे बोले श्रीगोपाल ॥ १ ॥

संजय बोला कि, पूर्वोक्त प्रकारसे करुणा करके व्याप्त और आंसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूधनने यह वचन कहा ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

क्योंकर भारी मोह हुआ यह तुझको बिषम समयमें पार्थ ।
यह अनार्यसेवित, नरकप्रद, अपयशकर है कर्म यथार्थ ॥२॥

हे अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थलमें यह अज्ञान किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देनेवाला है, न कीर्तिको करनेवाला है ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

ऐसा कायर मत हो अर्जुन ! उचित नहीं यह तुझको कार्य ।
तुच्छ हृदयकी दुर्बलता तज लड़नेको उत्थित हो आर्य ॥ ३॥

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तेरेमें योग्य नहीं है, हे परंतप ! तुच्छ हृदयको दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो ॥३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

हे मधुसूदन ! भीष्मपितामह तथा द्रोण हैं पूज्य महान ।
कैसे युद्ध करुँगा इनसे रणमें बाणोंसे भगवान ॥ ४ ॥

तब अर्जुन बोला कि, हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें भीष्म पितामह और द्रोणाचार्यके प्रति किस प्रकार बाणों करके युद्ध करूंगा, क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

गुरु महानुभावोंको रणमें नहीं मार करके हे प्रेष्ट ।
जगमें भिक्षा करके मेरा उदरपूर्ति करना है श्रेष्ट ॥
पर इन अर्थ कामियोंका इस रणक्षेत्रमें कर संहार ।
इनके रुधिर सने भोगोंको भोगूँ यह न मुझे स्वीकार ॥५॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूंगा ॥५॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरम्भ तथा परिणतिमें करे मोहमें चकनाचूर।
निद्रालस्य-प्रमाद-जन्य जो सुख है वह 'तामस' अति क्रूर ॥३९।

तथा जो सुख भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

क्षिति, आकाश तथा देवोंके लोक बीच भी वह कोई न।
जिसमें प्रकृति-जन्य ये हों ही नहीं सत्त्व, रज, तम गुण तीन ॥४०

और हे अर्जुन! पृथिवीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें, ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है, कि जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, तीनों गुणोंसे रहित हो, क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन सबहीके, हे पाण्डुकुमार!।
न्यारे-न्यारे कर्म कहे हैं प्रकृति-सिद्ध गुणके अनुसार ॥ ४१ ॥

इसलिये हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके भी कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणों करके विभक्त किये गये हैं अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमिता, ऋजुता और ज्ञान विज्ञान।
कर्मोंमें आस्तिक्य-बुद्धि, ये ब्रह्मकर्म स्वाभाविक जान ॥ ४२ ॥

उनमें अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन बाहर-भीतर की शुद्धि धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, आस्तिकबुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी, ये तो ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति और दक्षता, रणमें डटना, देना दान।
तथा प्रजापर हुकुम चलाना ये हैं क्षत्रियकर्म, सुजान! ॥४३॥

और शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें भी न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर, शास्त्राज्ञानुसार शासनद्वारा, प्रेमके सहित पुत्रतुल्य प्रजाको पालन करनेका भाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

वैश्यकर्म स्वाभाविक हैं कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य सधर्म।
इन सबकी सेवा करना ही प्रकृति-सिद्ध शूद्रोंका कर्म ॥ ४४ ॥

तथा खेती, गोपालन और क्रयविक्रय रूप सत्य व्यवहार ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णोंकी सेवा करना, यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

लगे हुए निज-निज कर्मोंमें पाते सिद्धि पुरुष प्रत्येक ।
सिद्धि स्वकर्मनिरतको जैसे मिलती, सुन तू वही विवेक ॥ ४५ ॥

एवं इस, अपने अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, परमसिद्धिको प्राप्त होता है, उसविधिको तू मेरेसे सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति जिससे और सकल जग जिससे व्याप्त ।
निज कर्मोंसे उसे पूजकर पुरुष सिद्धिको होता प्राप्त ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर, मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

हो परधर्म रुचिर गुणवाला पर स्वधर्म निर्गुण भी श्रेय ।
प्रकृति नियत कर्मोंको करता पुरुष न होता पापी,हेय ॥ ४७॥

इसलिये अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे, गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सहज कर्म यदि दोष-पूर्ण हो तो भी उसे न तजना आर्य !।
क्योंकि अग्नि ज्यों धूमावृत है त्यों दोषावृत सारे कार्य ॥४८॥

अतएव, हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएं से अग्निके सदृश सब ही कर्म किसी-न-किसी दोषसे आवृत हैं ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

मन वशकर, इच्छा विरहित हो, अनासक्त मति रख सर्वत्र ।
पाता है नैष्कर्म्य-सिद्धिको नर संन्यास-योगसे अत्र ॥ ४९ ॥

तथा हे अर्जुन ! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धि प्राप्त होकर फिर जैसे पुरुष ब्रह्ममें होता लिप्त ।
वैसे परम ज्ञानकी निष्ठा अब तू मुझसे सुन संक्षिप्त ॥ ५० ॥

इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष, जैसे सांख्ययोगके द्वारा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तू मेरेसे संक्षेपसे जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

और हे अर्जुन! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको धर्म ऐसा मानती है तथा और भी संपूर्ण अर्थोंको विपरीत हो मानती है, वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अचल हुई जिस धृतिसे ये मन, प्राण, इन्द्रियोंके व्यापार ।
करे योगके द्वारा मानव 'सात्विक' वह धृति पाण्डुकुमार ॥३३॥

और हे पार्थ! ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धारणा तो सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

जिसके द्वारा धारण करता है नर धर्म, अर्थ, फिर काम ।
हो प्रसंगसे फल-अभिलाषी उस धृतिका है 'राजस' नाम ॥३४॥

और हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य अति आसक्तिसे जिस धारणाके द्वारा धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणा राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

वह 'तामस' धृति कहलाती है जिसके द्वारा स्वप्न, विषाद ।
नहीं छोड़ सकता है दुर्मति मान, सुभय, विशोक, उन्माद ॥ ३५॥

तथा हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य, जिस धारणाके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको एवं उन्मत्तता को भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है॥ ३५ ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

भरतश्रेष्ठ ! अब सुन मुझसे तू तीन भांति सुखके भी भेद ।
जिसके परिचयसे रुचि होकर मिट जाते हैं सारे खेद ॥ ३६ ॥

हे अर्जुन ! अब सुख भी तू तीन प्रकारका मेरेसे सुन, हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जान पड़े विषतुल्य आदिमें और अन्तमें सुधासमान ।
निज मतिकी प्रसन्नतासे हो प्राप्त, वही सुख 'सात्त्विक' जान ॥३७॥

वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये जो भगवत् विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

'राजस' सुख वह होता है जो पा विषयेन्द्रियका संयोग ।
पहिले दीखे सुधा-सरीखा पीछे दे विष-सा फलभोग ॥ ३८ ॥

और जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें विषके सदृश है इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

आत्माका संयम कर धृतिसे होकर शुद्ध बुद्धिसे युक्त ।
शब्दादिक विषयोंको तजकर राग-द्वेषसे होकर मुक्त ॥ ५१ ॥
मित भोजन, एकान्तस्थिति कर, तन, मन, वाणी कर आधीन ।
रख वैराग्य योगका आश्रय, होकर ध्यानयोगमें लीन ॥५२॥

हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला तथा मिताहारी जीते हुए मन, वाणी, शरीर-वाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष, निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्याग कर और राग द्वेषोंको नष्ट करके ॥ ५१-५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहंकार, बल, गर्व, परिग्रह, काम क्रोधको गिनकर व्यर्थ ।
ममता-हीन शान्त नर होता ब्रह्मप्राप्तिके लिये समर्थ ॥५३॥

तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममतारहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदा-नन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभूत वह प्रसन्न मन हो गिनता प्राणीमात्र, समान ।
नहीं शोक, अभिलाषा करता पाता मेरी भक्ति सुजान ॥५४॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ प्रसन्नचित्तवाला पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता

है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है एवं सब भूतोंमें समभाव हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त होताहै ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

कितना और कौन हूं मैं, यह जान भक्तिसे मेरा तत्त्व ।
तदनन्तर मेरे अन्दर ही होता है प्रविष्ट वह सत्त्व ॥५५॥

और उस पराभक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूं तथा उस भक्तिसे मेरेको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मेरेमें प्रवेश हो जाता हैं अर्थात अनन्यभावसे मेरेको प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

सकल कर्म करता भी जो नर लेता मेरा आश्रय धार ।
मेरे परम अनुग्रहसे वह पाता शाश्वत पद अविकार ॥५६।

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मनसे सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके पाण्डुकुमार ! ।
बुद्धियोगका आश्रय करके मुझमें सन्तत मनको धार ॥५७॥

और हे अर्जुन ! तू सब कर्मों को मनसे मेरेमें अर्पण करके

मेरेमें परायण हुआ समत्व बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके, निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

फिर तू मेरे ही प्रसादसे पार करेगा सारे कष्ट ।
यदि इसको तू अहंकारसे नहीं सुनेगा, होगा नष्ट ॥५८॥

इस प्रकार तू मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म, मृत्यु आदि सब सङ्कटोंको अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकारके वश करता है 'नहीं लड़ूँगा' यह उद्योग ।
सब मिथ्या है, अर्जुन ! तेरा प्रकृति करा देगी विनियोग ॥५९॥

और जो तू अहंकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि क्षात्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

तू अपने प्राकृतिक कर्मसे बद्ध हुआ, हो मोह-अधीन ।
जो करनेको नहीं चाहता वही करेगा हो तदधीन ॥ ६० ॥

और हे अर्जुन ! जिस कर्मको तू मोहसे नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बंधा हुआ परवश होकर करेगा ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके रहकर हृदयदेशमें गूढ़ ।
घुमा रहा है निज मायासे मानों करके यन्त्रारूढ़ ॥६१॥

क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! तू सर्वभावसे शरण उसे हो प्राप्त निदान ।
उसके ही प्रसाद से लेगा शान्ति और वह शाश्वत स्थान ॥६२॥

इसलिये हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

ज्ञान गुह्यसे अधिक गुह्य यह मैंने तुझे बताया आर्य ! ।
दृढ़ विचार कर इसको, जैसी इच्छा हो वैसा कर कार्य ॥६३॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

सर्वगुह्यतम फिर यह मेरी अर्जुन ! सुन तू उत्तम बात ।
प्यारा मेरा इष्ट भक्त है इससे तुझे कहूं हित, तात ! ॥६४॥

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर नहीं मिलनेके कारण, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, कि हे अर्जुन ! संपूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है इससे यह परमहितकारक वचन, मैं तेरे लिये कहूंगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझमें मन दे, मुझको भज, कर मेरा यजन तथैव प्रणाम ।
मुझको होगा प्राप्त, सत्य मैं कहूं मुझे तू है अभिराम ॥६५॥

हे अर्जुन ! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित, निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन, और पठन-पाठनद्वारा, निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख,चक्र,गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका] मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और और प्रेमसे विह्वलता पूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूं क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६

सब धर्मोंको तजकर आ जा शरण एक मेरी बेरोक।
मैं तुझको सारे पापोंसे मुक्त करूंगा, मत कर शोक ॥६६॥

इसलिये सर्व धर्मोंको अर्थात संपूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तेरेको संपूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

यह बतलाना उसे नहीं तू जो हो तपसे हीन, अभक्त।
सुनना नहीं चाहता हो, जो मेरी निन्दामें अनुरक्त ॥६७॥

हे अर्जुन! इस प्रकार तेरे हितके लिये कहे हुए इस गीतारूप परमरहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्ति रहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छा-वालेके ही प्रति कहना चाहिये एवं जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये, परन्तु जिनमें यह सब दोष नहीं हों, ऐसे भक्तोंके प्रति प्रेमपूर्वक उत्साहके सहित कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो इस परम गुह्यका मेरे भक्तोंको देगा उपदेश।
निश्चय ही वह मुझे मिलेगा पाकर मेरी भक्ति विशेष ॥६८॥

क्योंकि जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके, इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

उससे बढ़कर मुझको कोई मनुजों बीच नहीं नर श्रेष्ठ।
और नहीं होगा इस जगमें उससे अन्य मुझे प्रिय श्रेष्ठ ॥६९॥

और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वीमें दूसरा कोई होवेगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

जो नर धर्मसमेत हमारा यह संवाद पढ़ेगा पार्थ!।
मैं मानूंगा ज्ञानयज्ञसे उसने पूजा मुझे यथार्थ ॥७०॥

तथा हे अर्जुन! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊंगा, ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

श्रद्धासहित न दोष देखकर इसे सुनेगा जो पर्याप्त।
मुक्त हुआ वह सुकृति-जनोंके शुभलोकोंको होगा प्राप्त ॥७१॥

तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ, इस गीताशास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा; वह भी पापोंसे मुक्त हुआ, उत्तम कर्म करनेवालेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

क्या तुमने एकाग्र चित्तसे यह सारा सुन लिया यथाथ?।
मोह और अज्ञान तुम्हारा नष्ट हुआ कि नहीं हे पार्थ! ॥७२॥

इस प्रकार गीताका माहात्म्य कहकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनसे पूछा, हे पार्थ ! क्या यह मेरा वचन तैंने एकाग्र चित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

नाथ ! आपके ही प्रसाद से गया मोह, स्मृति पाई आज ।
स्थित हूं, निःसन्देह करूंगा कहा तुम्हारा हे यदुराज ! ॥७३॥

इसप्रकार भगवान्के पूछनेपर अर्जुन बोला, हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूं और आपकी आज्ञा पालन करूंगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

ऐसा कृष्ण और अर्जुनका यह संवाद सहित उत्कर्ष ।
मैंने श्रवण किया अति अद्भुत जो करता है रोम-प्रहर्ष ॥७४॥

इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! इसप्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यास-अनुग्रह से ही मैंने सुना सुगुह्य परम यह योग ।
योगेश्वर प्रत्यक्ष कृष्णने दृढ़ समझाया कर उपयोग ॥ ७५ ॥

कैसे कि [illegible] जीकी कृपासे दिव्यदृष्टि द्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योगको साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवानसे सुना है ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

राजन् ! कृष्ण और अर्जुनका वह पवित्र अद्भुत संवाद ।
बारंबार हर्ष होता है जब जब मैं करता हूं याद ॥ ७६ ॥

इसलिये हे राजन ? श्रीकृष्ण भगवान और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होताहूं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

उस अद्भुत हरिके स्वरूपको सुमिर सुमिरकर मुझको आज ।
विस्मय और हर्ष ये दोनों फिर फिर होते हैं कुरुराज ! ॥७८॥

तथा हे राजन् ! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं [illegible]ार [illegible]र्षित होता हूं ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहाँ हैं जहां धनुर्धर अर्जुन वर्य ।
मेरे मतसे वहाँ सदा श्री, विजय, नीति, शाश्वत ऐश्वर्य ॥७८॥

हे राजन ! विशेष क्या कहूं, जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान हैं, और जहां गाण्डीवधारी अर्जुन हैं वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टदशोऽध्यायः ॥१८॥

शीघ्र प्रकाशित होगा ! शीघ्र प्रकाशित होगा !!

॥ हिन्दी महाभारत ॥

मोटे टाइप में, शुद्ध रूप से छपी हुई, ग्लेज कागज पर सुन्दर छपाई, दर्जनों तिरंगे और इकरंगे चित्रों के साथ अठारह पर्व महाभारत का तीसरा संस्करण शीघ्रही प्रकाशित होगा।

पक्की जिल्द। मूल्य मात्र छः रुपये डाक खर्च अलग।

अभी से आर्डर देकर अपनी प्रति सुरक्षित करा लें!

जनसाधारण को यह जानकर हार्दिक हर्ष होगा कि हमारे यहाँ से शीघ्र ही अनेक धर्मशास्त्रीय पुस्तकों का प्रकाशन होने [illegible] रहा है। उत्तम कागज, सुन्दर छपाई और अपेक्षाकृत सस्ता मूल्य। विस्तृत घोषणा की प्रतीक्षा करें।

व्यवस्थापक,

श्यामलाल अग्रवाल

२४ ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता—५

और जो मेरे परायण हुए भक्तजन, संपूर्ण कर्मों को मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुण रूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंको, पाण्डुकुमार ! ।
मृत्युरूप इस जग-सागरसे झट कर देता हूँ उद्धार ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करने वाला होता हूं ।७।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

ऐसे मुझमें चित्त लगा, मति मुझमें स्थिर करके सस्नेह ।
इसके पीछे मुझमें भारत ! बास करेगा निःसंदेह ॥ ८ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मेरेमें ही निवास करेगा, अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

यदि मुझमें मन भलीभाँतिसे स्थिर करते न बने रणधीर ! ।
तो अभ्यासयोगसे मुझको पानेकी इच्छा रख वीर ! ॥ ९ ॥

और यदि तू मनको मेरेमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप योगके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि अभ्यास न भी कर सकता तो मेरे हित कर तू कर्म ।
मेरे लिये कर्म करनेसे तू पावेगा निश्चय शर्म ॥ १० ॥

और यदि तू ऊपर कहे हुए अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो, इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ।१०।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

यह भी हो न सके तुझसे तो अर्जुन! कर तू मेरा योग ।
मेरा आश्रय ले, मन वश रख, कर्म-फलोंका तजकर भोग ॥११॥

और यदि इसको भी करने लिये असमर्थ है, तो जीते हुए मनवाला और मेरी प्राप्तिरूप योगके शरण हुआ सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग कर ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यासयोगसे और ज्ञानसे उत्तम ध्यान ।
श्रेष्ठ ध्यानसे त्याग कर्म-फल, मिले त्यागसे शान्ति महान ॥१२॥

क्योंकि मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे, परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है और परोक्ष ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यानसे भी, सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग करना श्रेष्ठ है और त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति होती है ॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

द्वेष-रहित सब जीवोंका हो मित्र, क्षमा-युत, ममता त्याग।
बिना अहंकृत और दयामय, सुख-दुखमें जो सम बड़भाग ॥१३॥

इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष, सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जिसके मुझमें सदा बुद्धि मन तुष्ट हुए रहते है सक्त।
दृढ़ निश्चयवाला, स्थिर मनका मुझको प्यारा ऐसा भक्त ॥१४॥

तथा जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ हानिमें संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियों सहित शरीरको वशमें किये हुए, मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे जनको क्लेश न होता और न जनसे जिसको क्लेश।
हर्ष, विषाद, क्रोध, भयसे जो मुक्त, वही प्रिय मुझे विशेष ॥१५॥

तथा जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है, तथा जो हर्ष-अमर्ष, भय और उद्वेगादिकोंसे रहित है, वह भक्त मेरेको प्रिय है ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो पवित्र, निरपेक्ष, दक्ष हो उदासीन हो, विना विकार, ।
सर्वारम्भ तजे हों जिसने मुझे भक्त प्रिय वह स्वीकार ॥१६॥

और जो पुरुष आकांक्षासे रहित तथा बाहर भीतर शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले संपूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी, मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

हर्ष द्वेष न होते जिसके नहीं शोक या इच्छावान ।
कर्म-शुभाशुभ फल त्यागे हों वही मुझे जन प्रिय तू जान ॥१७॥

और जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मेरेको प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

जिसे बराबर शत्रु मित्र हैं, मान और अपमान समान ।
शीत, उष्ण, सुख दुख सम जिसको जो हो संग-विहीन सुजान ॥१८॥

और जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी गर्मी और सुख दुःखादिक द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसार में आसक्तिसे रहित है ।१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

निन्दा स्तुतिमें सम, मौनी हो, मिले उसीमें हो सन्तुष्ट।
जो अनिकेत, बुद्धि स्थिर जिसकी मुझे भक्त नर वह प्रिय पुष्ट।१६।

तथा जो निन्दा स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला, भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है ॥१६॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

अमृत धर्म-युत यह जो मैंने कहा, इसे जो हो मन्निष्ठ।
करते हैं आचरण, मुझे वे प्रिय होते हैं भक्त वरिष्ठ ॥२०॥

और जो मेरे परायण हुए अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति एवं सबका आत्मरूप और सबसे परे परमपूज्य समझकर, विशुद्ध प्रेमसे मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर हुए श्रद्धायुक्त पुरुष, इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्कामभावसे सेवन करते हैं वे भक्त मेरेको अतिशय प्रिय हैं ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥



त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

इस शरीरको बतलाते हैं कुन्तीनन्दन ! क्षेत्र अनूप ।
इसे जानता है जो, उसको कहते हैं क्षेत्रज्ञ सुरूप ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसे कहा जाता है और इसको जो जनता है, उसको क्षेत्रज्ञ ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! तू जान मुझे ही क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ महान ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान भी है बस मेरा ही वह ज्ञान ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरेको ही जान और क्षेत्र क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र जो कुछ, जैसा, जिससे है, जो उसे विकार ।
जिस प्रभावका है वह सुन तू सुसंक्षेपसे पाण्डुकुमार ! ॥ ३ ॥

इसलिये, वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों

वाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है वह सब संक्षेपसे मेरेसे सुन ॥३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

पृथक् पृथक ऋषियोंने गाया है छन्दोंमें बहुत प्रकार।
ब्रह्मसूत्रके सकल पदोंसे निश्चित हुआ सहेतु विचार ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्व, ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और नाना प्रकारके वेद मंत्रोंसे, विभागपूर्वक कहा गया है तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी वैसे ही कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

महाभूत-गण, अहंकार फिर बुद्धि तथा अव्यक्त पदार्थ।
दसों इन्द्रियां तथा एक मन, पांच विषय इन्द्रियके पार्थ ! ॥५॥

और हे अर्जुन ! वही मैं तेरे लिये कहता हूं कि पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका सूक्ष्म भाव, अहंकार, बुद्धि और मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दश इन्द्रियां अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पांच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा द्वेष तथा सुख दुख भी और चेतना धृति संघात।
इस समुदाय-तत्वको कहते क्षेत्र, विकारसहित, हे तात ! ॥६॥

तथा इच्छा, द्वेष,सुख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता और धृति इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपसे कहा गया ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

निरभिमानिता, दम्भहीनता, क्षमा, अहिंसा, आर्जवबुद्धि ।
गुरुजनकी उपासना, स्थिरता, मनका निग्रह, और विशुद्धि ।७।

और हे अर्जुन ! श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणी मात्र को किसी प्रकार भी न सताने और क्षमाभाव तथा मन वाणीकी सरलता, श्रद्धा-सहित गुरुकी सेवा, बाहर भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियों-सहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

विषयोंसे वैराग्य धारना अहंकारका करना शोष ।
जन्म, मरण, बृद्धत्व, रोग दुख इनमें सदा देखना दोष ॥८॥

तथा इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

गृहदारासुतमें विरक्ति हो अनासक्त भी रहे तथैव ।
इष्ट अनिष्ट प्राप्तिसे मनकी बृत्ति एक-सी रखे सदैव ॥९॥

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिका अभाव और ममताका न होना तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका

सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर, हर्षशोकादि विकारोंका न होना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

और अनन्यभावसे मुझमें रखे सर्वदा निश्चल भक्ति ।
नित रहना एकान्त स्थानमें विषयी जनसे रखे विरक्ति ॥१०॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणि भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहने का स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदाय में प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

नित्य ज्ञान अध्यात्म समझना फिर विचारना तत्त्वज्ञान ।
इनको कहते ज्ञान, अन्य जो हैं इनसे वे सब अज्ञान ॥११॥

तथा अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सबतो ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है ऐसे कहा है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जानकर मोक्ष प्राप्त हो ऐसी अब कहता हूं बात ।
परब्रह्म वह आदिरहित न 'सत्' तथा न 'असत्' है तात ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जान कर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूंगा, वह आदिरहित, परमब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत कहा जाता है और न असत ही कहा जाता है ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

हाथ, पैर, आँखें, मुख, मस्तक और कान उसके सब ओर ।
और वही हे भारत ! जगमें व्याप रहा सबमें सब ठौर ॥१३॥

परन्तु वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला एवं सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ॥१३॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

इन्द्रिय-गणका गुण-प्रकाशक भी न रखे इन्द्रिय-संयोग ।
हो असक्त भी सबका पालक निर्गुण भी करता गुणभोग ।१४।

और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्ति रहित और गुणों में अतीत हुआ भी अपनी योगमाया में सबको धारण पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह सब भूतोंके भीतर है, बाहिर है चर अचर तथैव ।
सूक्ष्म हेतुसे अविज्ञेय है, दूर और है निकट सदैव ॥१५॥

तथा वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है और सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

वह अविभक्त हुआ भी सबमें है विभक्त-सा पाण्डुकुमार ! ।
पैदा करता, पालन करता, ज्ञेय, वही करता संहार ॥१६॥

और वह विभागरहित, एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर संपूर्ण भूतोंमें पृथक-पृथकके सदृश स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य परमात्मा, विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबका उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

सब तेजोंका तेज वही है, तमसे परे वही है ध्येय ।
सबके हृदयोंमें वह स्थित है, ज्ञान-गम्य है उत्तम ज्ञेय ॥१७॥

और वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेके योग्य है एवं तत्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार संक्षिप्त कहा यह क्षेत्र, ज्ञेय, संयुत विज्ञान ।
पाता है मेरे स्वरूपको, मेरा भक्त इसे दृढ जान ॥१८॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जानने योग्य परमात्माका स्वरूप संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति पुरुष दोनों अनादि हैं ऐसा समझो पाण्डुकमार ! ।
सदा प्रकृतिसे पैदा होते ये सारे गुण और विकार ॥१६॥

और हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तू अनादि जान और रागद्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ॥ १६ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

यही प्रकृति सब पैदा करती है हे भारत ! सब कारण कार्य ।
और पुरुष अनुभव करता है सुखदुखका यों कहते आर्य ।।२०॥

क्योंकि कार्य और कारणके उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१

पुरुष प्रकृतिमें सुस्थिर होकर प्रकृति-गुणोंका करता भोग ।
असत् और सत् योनि-जन्मका कारण है गुणका संयोग ।।२१।।

परन्तु प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है । और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

उपद्रष्टा, अनुमोदन करता, भर्ता, भोक्ता तथा महेश ।
इस शरीरमें कहलाता है परमात्मा पर पुरुष-विशेष ॥ २२ ॥

वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द-घन होनेसे परमात्मा ऐसा कहा गया है ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकारसे पुरुष प्रकृतिको गुणोंसहित जो लेता जान ।
कैसा ही बर्ताव करो वह, पुनर्जन्म उसका मत मान ॥ २३ ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर नहीं जानता है अर्थात् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

आत्माको अपनेमें कोई आप ध्यानसे देखे धीर ! ।
और सांख्यसे, तथा योगसे, कर्म-योगसे कोई वीर ! ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! उस परम पुरुष परमात्माको, कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे, ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और आप कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अन्य अजान लोग औरोंसे सुन सेवन करते दिनरात ।
सुने हुएमें रत, वे भी जन तर जाते हैं भवसे तात ! ॥ २५ ॥

परन्तु इससे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरे,से अर्थात् तत्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं, अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धा सहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

तुम ऐसा जानो इस जगमें स्थावर जंगम सकल पदार्थ ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ योगसे पैदा होते हैं हे पार्थ ! ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस संपूर्णको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके संबन्धसे ही संपूर्ण जगत्की स्थिति है, वास्तवमें तो संपूर्ण जगत् नाशवान् और क्षणभंगुर होनेसे अनित्य है ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

भूतोंके मिटनेपर भी जो मिटे न उनमें रहे समान ।
इसे देखता ऐसे जो नर वही तत्व लेता पहचान ॥ २७ ॥

इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको, समभाव स्थित देखता है वही देखता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

सदाकाल परमेश्वरको सम रूप जानता सबमें व्याप्त ।
घात न अपनी आप करे जो वही ब्रह्मको होता प्राप्त ॥ २८ ॥

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीरका नाश होनेसे अपने आत्माका नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

माया करती सब कर्मोंको ब्रह्म नहीं करता कुछ कार्य ।
इस प्रकार जो पुरुष देखता वही देखता सब कुछ आर्य! ॥२९॥

और जो पुरुष संपूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किए हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्वसे समझ लेता है कि, प्रकृतिसे उत्पन्न हुए संपूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

सब भूतोंका पृथक्भाव जब दिखने लगे एकमें पार्थ ! ।
फिर विस्तार उसीसे उसका तब हो ब्रह्म-प्राप्ति यथार्थ ॥ ३० ॥

और यह पुरुष जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पसे ही संपूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

यह अनादि निर्गुण होनेके कारण परमात्मा अविकार ।
देहस्थित भी कर्म न करता नही लिप्त हो पाण्डुकुमार ! ॥३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिपायमान होता है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

गगन सूक्ष्म होनेसे होता सर्वव्यापी यथा न लिप्त ।
यह आत्मा तनुमें सर्वत्र स्थित भी होता तथा न लिप्त ॥३२॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ भी आत्मा, गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

इन सारे लोकोंको करता एक प्रकाशित भानु यथैव ।
हे अर्जुन ! परमात्मा सारे लोक प्रकाशित करे सदैव ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है, अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे संपूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ज्ञानदृष्टिसे ऐसे जाने देह ब्रह्मको जो पर्याप्त ।
फिर भूतोंकी प्रकृति-मोक्षको समझे, उसे ब्रह्म हो प्राप्त ॥ ३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको, जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १॥

फिर बतलाता हूं मैं तुझको सब ज्ञानोंसे उत्तम ज्ञान ।
परम सिद्धि पा गये लोकमें सारे मुनि-जन इसको जान ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! ज्ञानों में भी अति उत्तम परमज्ञानको, मैं फिर भी तेरे लिये कहूंगा, कि जिसको जानकर सब मुनिजन, इस संसारसे मुक्त होकर, परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २॥

इसका आश्रय लेकर मुझमें एक-रूपता पाये लोग ।
सृष्टिकालमें जन्म न पाते तथा प्रलयमें दुखके भोग ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

प्रकृति योनि है मेरी इसमें करता हूँ मैं गर्भाधान ।
फिर होता है इससे सारे भूतोंका संभव, यह जान ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, संपूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और

में उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूं, उस जड़ चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सकल योनियोंमें होती हैं विविध मूर्तियां हे कौन्तेय ! ।
उन सबकी यह प्रकृति योनि है, मैं हूँ पिता बीजप्रद-ध्येय ॥४॥

तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियां अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

पैदा हुए प्रकृतिसे ये सब सत, रज, तम गुण पाण्डुकुमार ।
ये देहीको इस शरीरमें बांधे जो है बिना विकार ॥५॥

तथा हे अर्जुन ! सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण, इस अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

निर्मल है इसलिये प्रकाशक निरुपद्रवी सत्त्वगुण आप ।
ज्ञान और सुखसे देहीको बद्ध करे सुन हे निष्पाप ! ॥६॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाश करनेवाला, निर्विकार सत्वगुण तो निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे अर्थात् ज्ञानके अभिमानसे बांधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

रागात्मक रजगुण है इससे हो तृष्णा, आसक्ति महान।
बाँध डालता कर्म-संगसे यह प्राणीको पार्थ सुजान! ॥ ७ ॥

तथा हे अर्जुन! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माके कर्मोंको और उनके फलकी आसक्तिको बांधता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तम अज्ञानज है जीवोंको डाले मोहबीच भरपूर।
फिर प्रमाद, आलस्य, नींदसे प्राणोको बाँधे, हे शूर! ॥ ८ ॥

और हे अर्जुन! सर्वदेहाभिमानियोंके मोहनेवाले तमोगुण-को, अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बांधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सुखमें सत्व, कर्ममें रजगुण करता है आसक्ति महान।
कर प्रवृत्ति प्रमादबीच तम, प्राणीका ढक कर सब ज्ञान ॥९॥

क्योंकि हे अर्जुन! सत्वगुण सुखमें लगाता है और रजो-गुण कर्ममें लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञानको आच्छादित करके अर्थात् ढकके, प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

रज तम हटे सत्वगुण होता, सत तम हटे रजोगुण जान।
सत्व और रजके हटनेसे तम पैदा होता, यह मान ॥१०॥

और हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबा कर सत्त्व गुण होता है अर्थात् बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इस शरीरके सब द्वारोंमें जब हो भव्य प्रकाश विशाल ।
तब ऐसा जानो कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ रहता उस काल ।११।

इसलिये जिस कालमें इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें, चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस कालमें ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभः ॥ १२॥

कर्मारम्भ, प्रवृत्ति कर्ममें, स्पृहा, अशान्ति, प्रलोभ महान ।
ये पैदा होते जब अर्जुन ! तब रज बढ़ा हुआ तू जान । १२ ।

और हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकारके कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मनकी चञ्चलता और विषय-भोगोंकी लालसा, यह सब उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

अप्रकाश, कर्मोंमें आलस और प्रमाद, विमोह तथैव ।
ये होते उत्पन्न पाण्डुसुत ! जब, तम बढ़ता तभी सदैव ॥१३॥

तथा हे अर्जुन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश एवं कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद

अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियां यह सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सत्त्व बुद्धिके समय मनुज जो करता निज शरीरका त्याग ।
वह उत्तम तत्त्वज्ञ, सुरोंके लोक-बीच जाता बड़भाग ॥१४॥

और हे अर्जुन ! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित अर्थात् दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

देह रजोगुणमें जो छोड़े वह होता है कर्मासक्त ।
और तमोगुणमें जो मरता वह होता है मूढ़ अभक्त ॥१५॥

और रजोगुणके बढ़नेपर अर्थात् जिस कालमें रजोगुण बढ़ता है उस कालमें मृत्युको प्राप्त होकर, कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

पुण्यकर्मका फल मिलता है जनको निर्मल सत्त्व प्रधान ।
दुःख रजोगुणका फल होता और तमोगुण-फल अज्ञान ॥१६॥

क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ज्ञान सत्त्वमें पैदा होता, लोभ रजोगुणसे हो एक ।
और तमोगुणसे होते हैं मोह, प्रमाद तथा अविवेक ॥१७॥

तथा सत्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सात्विक जन स्वर्गादि लोकको पाते राजस मध्यम लोक ।
और तमोगुणमें स्थित जनको सदा अधोगति मिले सशोक ॥१८॥

इसलिये, सत्वगुणमें स्थित हुए पुरुष, स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष, मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें हो रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरूष अधोगतिको अर्थात् कोट, पशु आदि नोच योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

द्रष्टा जन जो यही देखता, कर्ता नहीं गुणोंसे और ।
तथा गुणोंसे परको जाने वह पाता है मेरी ठौर ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरूष तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदान-

न्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष, मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

जो जन कारणरूप जीत ले इस शरीरके ये गुण तीन ।
जन्म, मरण, बृद्धत्व दुखोंसे हो विमुक्त, वह मुझमें लीन ॥२०॥

तथा यह पुरुष, इन स्थूल शरीरको उत्पत्तिके कारणरूप, तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, बृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ, परमानन्दको प्राप्त होता है ॥ २०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

किन चिन्होंसे गुणातोत हो जन, उसका कैसा आचार ? ।
यह बतलाओ, नर जाता है परे गुणोंसे कौन प्रकार ? ॥२१॥

इस प्रकार भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा कि, हे पुरुषोत्तम ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है ? और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है ? तथा हे प्रभो ! मनुष्य किन उपायोंसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

पार्थ ! प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह ये हों तो, करे न इनसे द्वेष ।
और न हो तो इनकी मनमें, इच्छा तनिक न करे विशेष ॥२२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! जो पुरूष सत्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

कभी गुणोंसे चलित न हो जो उदासीन-सा हो आसीन ।
गुण ही गुणमें वर्त्त रहे, यों जान, रहे स्थिर डिगै कभी न ॥२३॥

तथा जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता है ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

सुखदुखमें सम, स्वस्थ, जानता तुल्य मृत्तिका, पत्थर, स्वर्ण ।
प्रिय-अप्रियमें, तुल्य, धीर जो निन्दा-स्तुतिमें सम दे कर्ण ॥२४॥

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

जिसे मान अपमान एक हों, सम हों शत्रु-मित्रका पक्ष ।
काम्य-कर्म-आरम्भ तजे जो गुणातीत वह है नर दक्ष ॥२५॥

तथा जो मान अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह संपूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष, गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

एकनिष्ठ जो भक्ति-योगसे मुझको भजता है दिनरात ।
गुणातीत होकर वह मानव मिलता ब्रह्मरूपमें तात ! ॥२६॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके द्वारा, मेरेको, निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार उल्लङ्घन करके, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अव्यय अमृतस्वरूप ब्रह्मकी भारत ! मुझे प्रतिष्ठा जान ।
शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुखका भी मैं ही हूं स्थान ।२७।

तथा हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका, मैं ही आश्रय हूं अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूं ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

जड़ ऊपर शाखाएँ नीचे ऐसा अव्यय पीपल एक ।
वेद पत्र हैं जिसके, ऐसा जाने उसको वेद-विवेक ॥१॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान बोले कि हे अर्जुन ! आदिपुरुष परमेश्वर रूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके बृक्षको अविनाशी कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप बृक्षको, जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

फैली हुई है अधऊर्ध्व शाखा पली गुणोंसे विषयाङ्कुरा जो ।
कर्मानुबन्धी उसको जड़ें भी नृलोकमें आ, गहरी गड़ी हैं ।२।

और हे अर्जुन ! उस संसारबृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय भोगरूप कोंपलोंवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएं नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्य योनिमें कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

न रूप वैसा इसका यहाँ पै मिले न आधार न अन्त आदि ।
प्रगाढ मूलों–युत जो इसे, ले असंगरूपी दृढ शस्त्र काटे ॥३॥

परन्तु इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहां विचारकालमें नहीं पाया जाता है, क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है, इसलिये इस अहंता, ममता औ वासनारूप अति दृढ़ मूलवाले संसाररूप पीपल के वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

तुरन्त पीछे वह स्थान ढूंढे जहां गये जीव, न लौटते हैं ।
प्रवृत्ति होती जिससे पुरानी उसी महापुरुषको भजूँ मैं ॥४॥

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको, अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसारमें नहीं आते हैं और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उस ही आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूं इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

मानी न मोही न तथा न संगी अध्यात्ममें नित्य तथा अकामी।
विमुक्त होके सुख-दुःखसे भी पाते वही अव्यय स्थान ज्ञानी ॥५

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्माके स्वरूप है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गई है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

जिसको नहीं प्रकाशित करता दिनकर पावक कला-निधान ।
जहाँ गये पीछे न लौटते मेरा वही परम है स्थान ॥६॥

और उस स्वयम् प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही है अंश सनातन जीव, जीव-लोकोंके बीच ।
प्रकृति स्थित मन सहित पंच इन्द्रिय को वह लेता है खींच ॥७।

और हे अर्जुन ! इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन

अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित हुई, मनसहित पांचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जिस शरीरको लेवे अथवा छोड़े यह ईश्वर स्वच्छन्द ।
संग इन्द्रियोंको ले जाता ज्यों पुष्पों में मारुत, गन्ध ॥८॥

कैसे कि, वायु गन्धके स्थानसे गन्धको, जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिकोंका स्वामी, जीवात्मा भी जिस पहिले शरीरको त्यागता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है उसमें जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

कान, और आंखें, त्वक, जिह्वा, नासा मनसंयुक्त तथैव ।
इनके आश्रयसे यह करता जीव विषय उपभोग सदैव ॥९॥

और उस शरीरमें स्थित हुआ, वह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एक देहसे देहान्तरको जाते, रहते, करते, भोग ।
गुणयुत इसे विमूढ़ न देखें, देखें ज्ञान-दृष्टि के लोग ॥१०॥

परन्तु शरीर छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त

हुएको भी, अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

युक्त हुए योगीजन इसको देखें स्थित आत्माके बीच ।
नहीं देखते अज्ञानीजन यत्नयुक्त भी मतिके नीच ॥ ११ ॥

क्योंकि, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए, इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते है ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

यह आदित्य-तेज जो सारा जगत प्रकाशित करे महान ।
और तेज जो चन्द्र-अग्निमें वह भी तू मेरा ही जान ॥ १२॥

और हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

धारण करता मैं भूतोंको क्षितिमें हो प्रविष्ठ, कर जोष ।
फिर बनकर रस सोम, करूँ मैं सकल औषधोंका परिपोष ॥१३॥

और मैं ही पृथिवीमें प्रवेश करके, अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूं और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर, संपूर्ण औषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूं ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

वैश्वानर होकर जीवोंके रहूं देहमें ले आधार।
प्राण अपान संग होकर मैं अन्न पचाऊँ चार प्रकार ॥ १४ ॥

तथा मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपानसे युक्त हुआ चार प्रकारके अन्नको पचाता हूं ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबमें मैं निविष्ट, मुझसे हो स्मरण, अपोह और विज्ञान।
वेदवेद्य, वेदान्त-रचयिता, और वादविद मुझको जान ॥१५॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हूं तथा मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूं तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूं ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

क्षर अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष लोकमें हैं मतिमान!।
भूतवर्गको क्षर कहते हैं अक्षर है कूटस्थ महान ॥ १६ ॥

तथा हे अर्जुन! इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी यह दो प्रकारके पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

उत्तम पुरुष अन्य है उसको परमात्मा कहते हैं पार्थ!।
वही ईश अव्यय, घुस जगमें पालन करता सकल पदार्थ ॥१७॥

तथा उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके, सबका धारण, पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

मैं हूं क्षरसे परे और हूँ अक्षरसे भी उत्तम धाम।
इससे लोक तथा वेदोंमें पुरुषोत्तम है मेरा नाम ॥ १८ ॥

क्योंकि मैं नाशवान्, जड़वर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूं और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूं, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूं ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९॥

ऐसे मोहमुक्त हो मुझको पुरुषोत्तम जो लेता मान।
सब प्रकारसे मुझको भजता वह नर हो सर्वज्ञ महान ॥ १६ ॥

हे भारत! इसप्रकार तत्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥१६॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

बतलाया यह शास्त्र तुझे है महागुह्य भी और सुसत्य।
इसे जान धीमान और भी हो जावेंगे अति कृतकृत्य ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन! ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता ॥२०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्याय ॥ १५ ॥



षोडशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

निर्भयता, शुचि वृत्ति सात्विकी, और सुसंस्थित रहना ज्ञान ।
यज्ञ तथा इन्द्रिय-संयम हों, स्वाध्याय, तप, आर्जव, दान ॥१॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन ! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है तथा जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूं, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्व-ज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक, भगवत्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणकी सरलता ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

सत्य, अहिंसा, क्रोध त्यागना, अपैशुन्य, हो भाव सुशान्त ।
अतिदयालु, निर्लोलुप, मृदु हो, अचपल, लज्जावान, नितान्त ।२।

तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभि-मानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा

सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ।२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, अद्रोह, शौच, धृति, निरभिमानिता हो पर्याप्त ।
दैवी प्रकृति-जन्य पुरुषोंको भारत ! ये गुण होते प्राप्त ॥३॥

तथा तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ।३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४ ॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, फिर कर्कशता अति हो अज्ञान ।
जो आसुर सम्पतमें होते, ये अवगुण उनमें तू जान ॥४॥

और हे पार्थ ! पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ।४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी सम्पत् मोक्षदायिनी और आसुरी बन्धन-हेतु ।
हुआ दैव-सम्पतमें है तू मत कर शोक भरत-कुल-केतु ! ॥५ ॥

उन दोनों प्रकारकी संपदाओंमें, दैवी संपदा तो मुक्तिके लिये और आसुरी संपदा बांधनेके लिये मानी गयी है, इसलिये

हे अर्जुन ! तू शोक मत कर ; क्योंकि तू दैवी संपदाको प्राप्त हुआ है ।५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

दो प्रकारकी जीव-सृष्टि है दैव एक है आसुर एक ।
दैव कही विस्तारसहित अब आसुरको तू सुन सविवेक ॥६॥

और हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंके स्वभाव दो प्रकारके माने गये हैं, एक तो देवोंके जैसा और दूसरा असुरोंके जैसा, उनमें देवोंका स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये अब असुरोंके स्वभावको भी विस्तारपूर्वक मेरेसे सुन ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

क्या प्रवृत्ति है ? क्या निवृत्ति है ? यह न जानते आसुर लोग ।
शौच और आचार न उनमें नहीं तथैव सत्यका योग ॥७॥

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्यकार्यमें प्रवृत्त होनेको और कर्तव्यकार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न निष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे कहते यह जगत् असत् है और अनीश, बिना आधार ।
काम-हेतुसे पैदा होता अपरस्पर ही यह संसार ॥८॥

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने आप

स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है इसलिये केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है इसके सिवा और क्या है ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

नष्टात्मा वे अल्पबुद्धि नर इस मतको करते स्वीकार ।
पैदा होते क्रूर-कर्मसे क्षय करनेको सब संसार ॥ ९ ॥

इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञानका अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्‌का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

कर आश्रय दुष्पूर कामका, दम्भ, मान, मदसे हो भ्रान्त ।
कुत्सित कर्म मोहसे करते मनमाने करके सिद्धान्त ॥ १० ॥

और वे मनुष्य दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर तथा अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसारमें बर्तते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अगणित चिन्ताओंमें रहते मरणकालतक ऐसे लोग ।
दृढ़ निश्चयसे यही जानते है पुरुषार्थ काम उपभोग ॥११॥

तथा वे मरणपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए एवं इतनामात्र ही आनन्द है ऐसे माननेवाले हैं ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

आशापाशोंसे वे जकड़े काम-क्रोधमें होकर लीन ।
सुखके हित अनीतिसे करते वे धनकी इच्छा मतिहीन ॥ १२॥

इसलिये, आशारूप सैकड़ों फांसियोंसे बंधे हुए और काम-क्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्याय पूर्वक धनादिक बहुत-से पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं ।१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

आज मिला यह मुझको, कल वह मेरा पूरा होगा काम ।
यह धन मेरा है फिर वह भी मेरा ही होगा धन धाम ॥१३॥

और उन पुरुषोंके विचार इस प्रकारके होते हैं कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथको प्राप्त होऊंगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

मैंने ही इस रिपुको मारा कल लूंगा औरोंके प्रान ।
मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगी, मैं ही सिद्ध, सुखी, बलवान ।१४।

तथा वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूंगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूं और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

धनवाला कुलीन मैं ही हूं मेरे सदृश कौन स्वच्छन्द ।
यज्ञ, दान, सुख-भोग करूंगा यों अज्ञान मोहसे अन्ध ॥१५॥

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूं, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान देऊंगा, हर्ष को प्राप्त होऊंगा इसप्रकारके अज्ञानसे मोहित हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

विविध कल्पनाओंमें भूले फँसे मोहमें ऐसे नीच ।
काम-भोग आसक्त हुए वे पड़ते अशुचि नरकके बीच ॥१६॥

इसलिये वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्त वाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फंसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

आत्मप्रशंसी ऐंठ भरे धन और मान-मद-संयुत अज्ञ ।
करते वे विधि-हीन नामके लिये दम्भसे पूरित यज्ञ ॥१७॥

तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त हुए, शास्त्रविधिसे केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार बल, दर्प, कामयुत, करके आश्रित क्रोधविशेष ।
निज-परमें स्थित मुझसे करते वे नर निन्दा-संयुत द्वेष ॥१८॥

तथा अहंकार, घमंण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करने वाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अशुभ क्रूर कर्मोंके कर्त्ता मेरे द्वेषी अधम तथैव।
इन्हें आसुरी योनि-बीच ही पार्थ! डालता रहूं सदैव ॥१९॥

ऐसे, उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी, नराधमोंको मैं संसारमें बारम्बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूं अर्थात् शूकर कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

इस प्रकार वे जन्म-जन्ममें आसुरयोनि प्राप्त हों लोग।
मुझे न पाकर, वे पाते हैं महा अधमगतिका संयोग ॥२०॥

इसलिये हे अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मेरेको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

काम और है क्रोध, लोभ ये तीन प्रकार नरकके द्वार।
आत्मनाश-कारक है, इससे इनको तजना सर्वप्रकार ॥२१॥

और हे अर्जुन काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

तमोद्वार इन तीनोंसे जो पुरुष मुक्त हो जाता पार्थ ! ।
अपना श्रेय साधते उसको हो उत्तम गति प्राप्त यथार्थ ॥२२॥

क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात मेरेको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

छोड़ शास्त्रकी विधिको जो नर करता है मनमाने काम ।
उसे न मिलती सिद्धि और सुख, तथा न मिलता उत्तम धाम ।२३।

और जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्याग कर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इससे कार्य-अकार्य-बीच तूँ मान प्रमाण शास्त्र-अनुसार ।
शास्त्र-विधान जानकर जगमें सकल कर्म कर पाण्डु-कुमार ! ।२४।

इससे तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जान कर तू शास्त्र विधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करनेके लिये योग्य है ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोड़शोऽध्यायः ॥१६ ॥



सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुनउवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

छोड़ शास्त्रकी विधि, श्रद्धायुत यज़न करें जो नर मतिमान ।
उनकी निष्ठा किस प्रकार है सत है या रज, तम, भगवान ! ॥१॥

इस प्रकार भगवान्‌के बचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्याग कर केवल श्रद्धासे युक्त हुए देवादिकोंका पूजन करते हैं उनकी स्थिति फिर कौन-सी है ? क्या सात्विकी है ? अथवा राजसी किंवा तामसी है ? ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रद्धा तीन प्रकार नरोंके होती है, स्वभावसे ज़न्य ।
उनको सुन, है एक सात्विकी, एक राजसी, तामस अन्य ॥२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्री कृष्ण भगवान् बोले हे अर्जुन ! मनुष्योंकी वह बिना शास्त्रीय संस्कारोंके केवल स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है, उसको तू मेरेसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

श्रद्धामय है पुरुष पार्थ ! यह श्रद्धा होती सत्व समान ।
जिस जनके जैसी श्रद्धा हो उसको तू वैसा ही जान ॥३॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके

अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयम् भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्विक जन देवोंको भजते, यक्षादिकको राजस-भक्त ।
प्रेत और भूतोंका सेवन करते हैं नर तम—आसक्त ॥४॥

उनमें सात्विक पुरुष तो देवोंको पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

दम्भ अहंकृति संयुत जो नर काम रागका पाकर जोर ।
शास्त्रविरुद्ध किया करते हैं कुन्तीनन्दन ! तप अति घोर ।५।

और हे अर्जुन ! जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित, केवल मनोकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

देहस्थित भूतोंको, मुझको जो हूं तनुके अन्दर गूढ ।
कष्ट दिया करते हैं वे बस निश्चय हैं नर आसुर मूढ़ ॥६॥

तथा जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रियादिकोंके रूपमें परिणत हुए आकाशादि पांच भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं उन अज्ञानियोंको तू आसुरी स्वभाववाले जान ॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सबके प्रिय आहार तथा तप और दान भी तीन प्रकार ।
अर्जुन ! सुन कहता हूं उनके भेदोंको करके विस्तार ॥७॥

और हे अर्जुन ! जैसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, वैसे ही भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार करके होते हैं, उनके इस न्यारे-न्यारे भेदको तू मेरेसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्वबलारोग्य
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयु, सत्त्व, बल, सुख प्रीतिके वर्धक होकर दें आरोग्य ।
चिकने, सरस, हृद्य, चिरस्थायी हैं भोजन सात्त्विकजन भोग्य ॥८

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ तो, सात्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्ठा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

खट्टे, खारे, उष्ण, चरपरे, तीखे, रूखे, दाहक अन्न ।
दुःख-शोक-रोगप्रद, प्यारे मानें नर रजगुण-सम्पन्न ॥९॥

और कडुवे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न

करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ, राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

ठंडा, नीरस, दुर्गन्धित, फिर बासी, जूँठा, अति अपवित्र ।
और अमेध्य सदा प्रिय भोजन है तामस-जनको हे मित्र ! ॥१०॥

तथा जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

निज कर्तव्य जान फल-आशा तज, शास्त्रोंकी विधि-अनुसार ।
शान्त चित्तसे किया जाय जो, उसको सात्त्विक यज्ञ विचार ॥११॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मनको समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ तो सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

स्वर्गादिक फलकी इच्छासे अथवा दम्भ-हेतु जो यज्ञ ।
किया जाय, उसको कहते हैं राजस, हे भारत ! तत्वज्ञ ॥ १२॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ, केवल दम्भाचरणके ही लिये अथवा फलको भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधिसे हीन. अन्नसे विरहित बिना दक्षिणा मन्त्र-विहीन ।
श्रद्धासे जो शून्य यज्ञ हो वह है तामसयज्ञ मलीन ॥१३॥

तथा शास्त्रविधिसे हीन और अन्नदानसे रहित एवं बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, विप्र, गुरु, प्राज्ञ पूजना तथा सरलता शौचाचार ।
और अहिंसा, ब्रह्मचर्य ये कायिक तप हैं पाण्डुकुमार ! ॥१४॥

तथा हे अर्जुन ! देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वचन सत्य, हित, प्रियकर हो जो मनको नहीं करें उद्विग्न ।
और पाठ वेदोंका अर्जुन ! ये हैं वाचिक तप निर्विघ्न ॥१५॥

तथा जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद-शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मन प्रसन्नता मौन सौम्यता आत्म-विनिग्रह भाव-विशुद्धि ।
हे भारत ! इनको मानस तप बतलाते हैं पुरुष सुबुद्धि ॥१६॥

तथा मनकी प्रसन्नता और शान्तभाव, एवं भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता, ऐसे यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

यदि श्रद्धासे ये तीनों तप, मन स्थिर कर फल-आशा त्याग ।
किये जायँ तो कहलाते हैं सबही सात्विक हे बड़भाग ! ॥१७॥

परन्तु हे अर्जुन ! फलको न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको तो सात्विक कहते हैं ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

किये जायँ पाखण्डपूर्ण जो निज सत्कार-मान-पूजार्थ ।
अस्थिर और सुचंचल वे तप राजस कहलाते हैं पार्थ ! ॥१८॥

और जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप, यहां राजस कहा गया है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अपनेको पीडा देकर जो मूढ़ दुराग्रह मनमें ठान ।
परविनाश-हित किया जाय जो अर्जुन! वह तामस तप जान ॥१९॥

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीडाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यह देना है यही समझकर अनुपकार नरको पहचान ।
देश तथा सत्काल, पात्रमें दिया जाय, वह सात्त्विक दान ॥२०॥

और हे अर्जुन ! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश काल और पात्रके प्राप्त होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो हो प्रत्युपकार हेतुसे, या हो लेकर फल-उद्देश ।
बस वह राजस दान कहा है दिया जाय जो करके क्लेश ॥२१॥

और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करनेकी आशासे अथवा फलको उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

असमय और अयोग्य देशमें या अपात्रमें कर अपमान ।
बिना किये सत्कार दान जो दिया, जाय वह तामस जान ॥२२॥

और जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देशकालमें, कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी जारी आदि नीच कर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

ओम् तत्, सत् ये परब्रह्मके तीन नाम कहते हैं तज्ज्ञ ।
इनके द्वारा ही ये सारे बिरचे गये वेद द्विज यज्ञ ॥ २३ ॥

और हे अर्जुन ! ॐ, तत, सत् ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें, ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इस कारण 'ओम' इसको पढ़कर यज्ञ-दान तप आदिक काम ।
विधिपूर्वक करते रहते हैं सकल ब्रह्मवादी अविराम ॥ २४ ॥

इसलिये वेदको कथन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत की हुई यज्ञ, तपरूप क्रियाएं सदा ऐसे इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

तत् इसको पढ़कर फलको तज यज्ञ दान तप आदिक कार्य ।
नानाविधि करते रहते हैं पुरुष मोक्ष अभिलाषी आर्य ॥ २५ ॥

और तत् अर्थात् तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है ऐसे इस भावसे फलको न चाहकर, नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएं कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६॥

साधुभाव सद्भाव अर्थमें होता 'सत्' यह शब्द प्रयुक्त ।
तथा और भी शुभ कर्मोंमें यही शब्द होता उपयुक्त ॥ २६॥

और सत् ऐसे यह परमात्माका नाम, सत्य भावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तपस्या; और दानमें स्थिति हो उसे कहें सत् आर्य।
और उन्हे भी सत् ही कहते जो तदर्थ होते हैं कार्य॥ २७ ।

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी सत् है; ऐसे कही जाती है, और उस परमात्माके अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है, ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

श्रद्धा बिना दिया, होमा, जो किया, तपस्या आदिक कर्म।
उसे असत् कहते हैं उससे यहां तथा न वहां हो शर्म ॥ २८ ॥

और हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता हैं, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके पीछे ही लाभदायक है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्कामभावसे, केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परमश्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनउवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

महाबाहु ! हे हृषीकेश ! मैं किया चाहता हूं यह ज्ञान।
त्याग और संन्यास तत्त्वको पृथक् पृथक कहिये भगवान् ॥१॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव ! मै संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक-पृथक् जानना चाहता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

सकल काम्य-कर्मोंका तजना ही सन्यास कहाता पार्थ !
और कहाता सब कर्मोंका फल-त्याग ही त्याग यथार्थ ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्री कृष्ण भगवान् बोले हे अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास जानते हैं और कितने ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

दोष-युक्त सब कर्म त्यागने योग्य बताते पंडित एक।
त्याज्य नहीं है कभी दान, तप, यज्ञ-कर्म, यों कहें अनेक ॥३॥

तथा कई एक विद्वान् ऐसे कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त

हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

अब तू त्याग विषयमें मेरा निर्णय सुन हे पाण्डुकुमार ! ।
पुरुषश्रेष्ठ! यह विद्वानोंने त्याग बताया तीन प्रकार ॥ ४ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! उस त्यागके विषयमें तू मेरे निश्चयको सुन, हे पुरुषश्रेष्ठ ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकारका ही कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

करनेके ही योग्य दान, तप, यज्ञ-कर्म तो त्याज्य न मित्र ! ।
यज्ञ, दान, तप कर देते है विद्वानोंके हृदय पवित्र ॥५॥

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं है किन्तु वह निःसन्देह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

ये भी कर्म संग, फल-आशा तजकर करने हैं कर्तव्य ।
ऐसा निश्चित मत मेरा है अर्जुन ! सकल मतोंमें भव्य ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

मतंगी सब रँग रंगी कुंजनबिच बिचरे ॥ नन्दललनपिय रसिक शिरोमणि माती धूमधरे ॥ २ ॥ इति ॥

का भयो ननदी अनोखे पियाको होरी खेलत मोसे

नईरे नईरे इस धुनिपर ॥

होली समान मात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरी से ॥

(१२२२) खेलत नित नइ होरी सखी मोरे बिरहा संग खिलारी रहतहै ॥ अन्तरा उठान तीसरी से ॥ वियोग दुल्हैया बनीहि रहतहों संशयकी शिर सारी रहतहै ॥ १ ॥ चुलिया घुनरिया तरही रहतहै नैननसों झर जारी रहतहै ॥ २ ॥ घिरोहि रहत अन्देश अबिर घन सुखनु सुपथ अँधियारी रहतहै ॥ ३ ॥ गम गुलाल रहे गात गहगह्यो रंज रोरि रुचिकारी रहतहै ॥ ४ ॥ क्लेश कुमकुमन की घातनसों निपटहि जियरा आरी रहतहै ॥ ५ ॥ नँदललनहि प्रतिकूल लखत कछु पिय की सौत सँग यारी रहतहै ॥ ६ ॥ इति ॥

होली जोड़ेकी समानमात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरी से ॥

(१२२३) हैं चलरी जहँ गोरी खिलारी मुरारी रहतहै ॥ अन्तरा उठान तीसरी ताल से ॥ लैलेरी पिचकार प्रीति जो प्रेम रंग अधिकारी रहत है ॥ १ ॥ चाउको चँदन अतर आशाको चलु मलु जासु तुषारी रहत है ॥ २ ॥ गोविंद गुन गुलाल गठरी गहु ज्यहि मद में मतवारी रहत है ॥ ३ ॥ ले रति रोरि तोप तिन के तन जिनहित तैं मनमारी रहत है ॥ ४ ॥ चलु मलु अनँद अबिर

मोहन मुख यह सुखकी यहिबारी रहतहै ॥ ५ ॥ नन्दललन पियके मिलबे को यहि अवसर सुखकारी रहत है ॥ ६ ॥ इति ॥

होली जोड़ेकी समानमात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरी तालसे ॥

(१२२४) फागमें लागलगाउ श्यामसों यह अवसर सुखकारी रहतहै ॥ अन्तरा उठान तीसरी तालसे ॥ मनमनसा पुराउ ज्यहिविधि चहि होरीमें अजबबहारी रहतहै ॥ १ ॥ दोष अदोष होत सब यहिछिन रोषपरोस न प्यारी रहतहै ॥ २ ॥ उरउछाह उत्साहन सों करु लाज निलांजिन न्यारी रहतहै ॥ ३ ॥ खुलिये खेलिये नन्दललन मिल हँसि बुलबेकी बारी रहतहै ॥ ४ ॥ इति ॥

होली जोड़े की समान मात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरीसे ॥

(१२२५) आवत फागुनमास सखी थिरु क्यों दुलरात दुलारी रहतहै ॥ अन्तरा उठान तीसरी तालसे॥ गे दिनचारि लखूँगी तुहिका जैसतोरि दरदारी रहतहै ॥ १ ॥ निकसजायगो सब इतरैबो बहु जुबना मतवारी रहतहै ॥ २ ॥ अबहिं कानि कुल लाज लिपटुरी वह छिन लाज उघारी रहतहै ॥ ३ ॥ वहिदिन तोर सराहूंगी रँगढँग जब व्रजधूमधमारी रहतहै ॥ ४ ॥ जस तू रसिक तसनन्दललनप्रिय यह पुरमाहिं खिलारी रहतहै ॥ ५ ॥ तोरिजोरि भलिमिलई बिधाता दिखिहौंकस रँगदारी रहतहै ॥ ६ ॥ इति ॥

होली जोड़े की समान मात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरी ताल से ॥

(१२२६) आँक चुकीहौं नारि नबेली तुहि यकव्रज रँगवारी रहतहै ॥ अंतरा उठान तीसरी तालसे ॥ सखिनशिरोमणि रसिक

रसायन तुवकर ब्रजपतिसारी रहतहै ॥ १ ॥ कुलब्रजजन तुहि रहत असीसत तोसन फागबहारी रहतहै ॥ २ ॥ हैकृपाल तो सुधिबुधिपर प्रभु तोरि चतुरता न्यारी रहतहै ॥ ३ ॥ नँदललनहुं तुहिकै अदरावत तनमन सों सतकारी रहतहै ॥ ४ ॥ इति ॥

होली जोड़ेकी समानमात्रिक रागिनी खम्माच ॥
उठान तीसरीसे ॥

(१२२७) आगलगै जरजाय फागमोहिं पियबिन कछुनहिं नीकोलगतहै ॥ अंतरा उठान तीसरी तालसे ॥ एरी ए ननँदि मोरी जबसों बिछुरी जोरी तोरीसौं होरीकोनाम लिये जी जरतहै ॥ बिरहअनल नितजियरा दहतहै ॥ १ ॥ करूँमैं कहा यतन तजे न पिया सौतन नँदकोललन मोरी यक न सुनत है ॥ मिलन चहत कछुबश न चलतहै ॥ २ ॥ इति ॥

ध्रुपद रागिनी खम्माच मलार ॥
शूलताल उठान समसे ॥

(१२२८) निपटनिडर डगरबगर मारगमोरी छांड़छैला न गलबैयांडार बराजोरी थोरीछांड़ ॥ अंतरा उठान समसे ॥ बहुविधि बरजो न माने कान्ह बड़ नदान कौन आनि ठानि नँद के ललन लड़कापनोरी जोराजोरी छांड़ ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी रागिनी काफी खम्माच ॥
उठान पहिलीकी खालीकी खालीसे ॥

(१२२९) सखीरी मुहिंका निरदइनिंदीया न आई रे रात विरहाबिथासों रहीबिकल न कल जियपिय की मगहेरत रैनियां गवांई नखत गिनगिन ॥ अंतरा उठान समसे ॥ सोलहू सिंगार चारुचात्तिस अभरन सुधार सुमन सिजिया सैयां काज सुघरसी

सजाईरे सेजरियासजाई सोउभइ दुखदाईरे ॥ १ ॥ अवधबद न आये श्याम निरखु उनके कुटिल काम दामदाम कुलचिकाम तन सुधि बिसराईरे सुधिबिसराई नँदललनकी दुहाईरे ॥ २ ॥ इति ॥

॥ आस्ताई रागिनी आसावरी त्रैताल ॥

उठान खालीकी अगली तीसरी मात्रा से ॥

(१२३०) चलिये मीत गोपाल जगावन ॥ अंतरा उठान तीसरी की खाली से ॥ गाय बछा की रछाकर ता सँग चलु बन धेनु चरावन ॥ दधि माखन मधु क्षीर छाक छकि प्रभु प्रसादि रस पावन ॥ गुपाल जगावन ॥ १ ॥ हीरा मोती पन्ना चुन्नी माणिक मणियां लड़ियां रतन की सुहावन ॥ ऐस मुरलियाकी तान प्रान धनहारिमुख सुन हुलसावन ॥ गुपाल जगावन ॥ २ ॥ नन्द ललन ब्रज जन धन जीवन जग अघ ओघ नशावन ॥ सुखद चरन इस्पर-शन करिये प्रभु दरशन मनभावन ॥ गुपाल जगावन ॥३॥ इति॥

सैयां तोरी पैयां लागूं बैयां न मरोर इस धुनिपर ॥

ठुमरी ठाहदून बोलोंकी रागिनी काशमीरी काफी ॥

उठान समकी खाली की खाली से ॥

(१२३१) गुइयां गुसैयां सौं कन्हैया बड़ो दधि चोर॥ (अथ दून उठान खालीसे) सखन समाज लिये डोलत निलाज घर घर छैला ताकत फिरत भये भोर ॥ गुसैयां सौं कन्हैया दधिचोर ॥ अंतरा उठान खाली से ॥ ऐसो गिरधारी नँद ललन अनारी दधि माखन को बैरी करे कपट करोर ॥ मोर घर फँदि आवे छीके ताखन निहारे घट गोरस उतारे चख जावेरी किशोर ॥ दे गैयां गरहैयां बछा छोर ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी ठाहदून बोलोंकी रागिनी काशमीरी काफी ॥
उठान समकी खाली की खाली से ॥

(१२३२) तिहारी जादूवारी चितवन चितचोर ॥ (दून उठान खाली से) नैना अनियारे कजरारे रतनारे भरी मोहिनी बसीकरन टुनवां करारे ॥ जादूवारी चितवन चितचोर ॥ अंतरा उठान खाली से ॥ सोहनी सोहनी सांवरी सलोनी छबि तोरी मधुरी मुरलि सुधि बुधि हरलई मोरी नँदके ललन पिय गजब कियोरी अस पलकमार बस कीन्हो मनमोर जादूवारी चितवन चितचोर ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी ठाहदून बोलों की रागिनी काशमीरी काफी ॥
उठान समकी खाली की खाली से ॥

(१२३३) मैंका मा ऐसी भावे बराजोरी तोरी कान्ह ॥ (दून उठान खाली से) कुटिल कन्हाई कैसी करत ढिठाई तैंतो नेक न लजाई करे जिय न क्वान ॥ ऐसी भावे बराजोरी तोरी कान्ह ॥ अंतरा उठान खाली से ॥ यमुन जागीर पनघटन के तीर नीर कहँ से भरन फिर जाये कोइ बलवीर यशुदा ललन बड़ो भयो कुत्रलन छेंड़े मग में सखिन मांगें जोबन को दान ॥ ऐसी भावे बराजोरी तोरी कान्ह ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी ठाहदून बोलोंकी रागिनी काशमीरी काफी ॥
उठान समकी खाली की खाली से ॥

(१२३४) चलोरी गोरी गोकुल गली को बरजोर ॥ (दून उठान खाली से) मती हो जो सखि तोर सुनु मैं कहूं निहोर सँग ले जनानो जोर बनता बटोर ॥ गोरी गोकुल गलीको बरजोर ॥ अंतरा उठान खाली से ॥ निरख परे जो श्याम मुरली लकुट थाम पटनु पिछौरी छोर बनवें सलोनी बाम ॥ नँदके ललन वीर लेत्रल

यशोदा तीर बोलै जो जरौ तौ गाल गुलचन फोर ॥ गोरी गो-
कुल गली को बरजोर ॥ १ ॥ इति ॥

ध्रुपद राग एमन कल्याण चारिताल ॥
उठान समसे ॥

(१२३५) पार ब्रह्म परमेश्वर परमहि दयाल भक्तवसल सुरन रक्षपाल ॥ अंतरा उठान समसे ॥ नरनायक नरोत्तम नरसिंह नरहर गिरिवरधर नन्दकुँवर श्रीगुपाल ॥ १ ॥ (अभोग) ब्रजपति ब्रज बधूपति श्रीराधापति यदुपति जगपति सुरपति पतिविशाल ॥ २ ॥ खगपति पति मुनिनाधिपति धर्म्मनुपति पशुपतिपति गुणपति नंदललन प्रिया कृपासिन्धु दीनद्याल ॥ ३ ॥ इति ॥

ध्रुपद राग पूरिया ॥
चारिताल उठान समसे ॥

(१२३६) सप्तस्वर प्रगट कीन्हे सा सा रे रे गा गा मा पा धानी सा ॥ अन्तरा उठान समसे ॥ तीनग्राम ताकी मूर्छना इकीस बाइस श्रुती दीर्घमध विलंपति लै राग भेद ताल सहित ठाह दून तासु दून तिगुन तीव्र ताल अधरकी दून दूनकी समता पुनि समताकी लै तीनों ॥ १ ॥ घात अनाघात सम असम कालको अ-काल काल लै की अलय अभरनकी भान चलन फिरन गलेकी तान लेन देन लाग डांट दपट झपट नोक झोक चतुरता ढिठाई सहित कर अलाप सही तान गान उपज ललनपिया गुरुको अदब कीजै है हरि अधीनो ॥ २ ॥ इति ॥

ध्रुपद राग बिहाग ॥
चारिताल उठान समसे ॥

(१२३७) दूर दूर रहत श्याम रूठ रहे हौ मोसे कहा कवन

गुन बिसारी मोहिं बोलत मुखहू न बचन ॥ अन्तरा उठान सम से ॥ कौनलाग जान बैर ठानलियो मोसे कान्ह यकाएक सिगरी रीति प्रीति छांड़ दइरे मोहन ॥ १ ॥ प्रथम तो लगाय प्रेम तन मन रस बसाहि कीन्हों अब तज किम विकल कीन्ह हीनभई गति मति मन ॥ २ ॥ कहो कौन प्यारी कीन्ह आज काल गुण प्रबीन ज्यहि हित मुहिं प्रानपति निरादर कीन्हि वरन ॥३॥ (अभोग) ऐसी कह बातभई रुषीरिष रगतनई असि तुहि नहिं उचित निरखुमोरि ओरि मदन मोहन ॥४॥ (भोग) जो जो चित चूकधरी सो तजकर कृपा हरी मैं तो सब बिधि अधीन ललन श्याम तोरी शरन॥५॥इति॥

ध्रुपद राग सूहा सुघरई ॥

शूल ताल उठान समसे ॥

(१२३८) तेरोहि रँग रँगो प्रिय लगोसो जिय अँगो ॥ अन्तरा उठान समसे ॥ जैसी जैसी तोरी बानि तैसी तैसी धरुंध्यान तेरोही गुनान गान करत भय भगो ॥ १ ॥ तोरेहि अधीनहूं नँद ललनपिया प्रवीन द्रवहु दीनबंधु दास तोरहितपगो ॥ २ ॥ इति॥

ठुमरी रागिनी खम्माच ॥

उठान पहिलीसे ॥

(१२३९) निरमुहिया दैया मोरी मटकी पटकदई कान्ह ऐसो ढीठ मानी न कही हां ॥ अन्तरा उठान खालीकी अनसरल खाली से ॥ ललनपिया सौं अब कैसी मैं हांरे सास रिसाई देगी गारी मोरीलाज गइ हां ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी जोड़ेकी रागिनी खम्माच ॥

उठान तीसरी तालसे ॥

(१२४०) चन्द्रवदन गोरे गात छबीली नारी छबि न्यारी

न्यारी चितवन जादूवारी ॥ अन्तरा उठान खालीकी अनसरल खालीसे ॥ नइ नइ नारि रूपकार अँग अँग शुभ सजे सिंगार लखि बहार ललनपिय वारी वारी ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी समान मात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान समकी खालीकी खालीसे ॥

(१२४१) चलत चित चोरत चाल मदभरी ॥ पगन ठुमकैयां धरत मग मैयां ॥ अन्तरा उठान समकी खालीकी खाली से ॥ घूंघटपट टारे नैनन सैनमारे हेरन हिय हरत करत बसरी॥१॥ हँसन वशीकरन दशन हीर वरन सोहत मुख पानकी ललित छविरी ॥ २ ॥ वदन शशि प्यारी उमर अति बारी ललनपिया वारी बलिहारी मनरी ॥ ३ ॥ इति ॥

ठुमरी समानमात्रिक रागिनी खम्माच ॥

उठान समसे ॥

(१२४२) गारी दीन्हीं मुहिंका समलिया न·नीकी कीन्हीं जाय कहूंगी यशुदा सों मैं आज तोरी कौनबानि नटखट नटवर लीन्हीं ॥ अंतरा उठान समसे ॥ बार बार मगचलत करत मोंसे बराजोरी ठठोली ललनपिया ऐसी कीन्हीं ॥ १ ॥ इति ॥

ठुमरी रागिनी खम्माच ॥

उठान खालीकी अनसरल से ॥

(१२४३) श्यामसुन्दर की मधुर हँसन चितवन जिय बस गइरे ॥ आज चितवन जिय बसगइरे ॥ अंतरा उठान खालीसे ॥ कजरारे बिन कजराके रसरंग भरेनैना सजनी । मन बेगिहरत जादू सो करत दरशात छवि नइ नइरे ॥ सुघर दरशात छवि नइ नइरे ॥ १ ॥ कर वंशीवर अधरधारे स्वर तानलेत मधुरीधुनिसन

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

कभी किसीको नियत कर्मका करना नहीं चाहिये त्याग ।
त्याग मोहसे हो उसका, तो वही त्याग तामस, बड़भाग ॥७॥

और हे अर्जुन ! नियत कर्मका त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिये मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

देह-क्लेशोंके भयसे कोई दुःख मानकर तज दे कार्य ।
तो वह त्याग राजसी है, फल उसका उसे न मिलता आर्य ! ॥८॥

और यदि कोई मनुष्य जो कुछ कर्म है, वह सब ही दुःख स्वरूप है, ऐसे समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्यागको करके भी त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

निश्चित निज कर्तव्य मानकर नियमित अपने कर्म सुजान ।
करें संग, फल-आशा तजकर, उसी त्यागको सात्त्विक मान ॥९॥

और हे अर्जुन ! करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही, जो शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्तिको और फलको त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें जो

आसक्ति और फलका त्याग करना है, वही सात्विक त्याग माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागो सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

अहितकर्ममें द्वेष न करता स्वहित कर्ममें रहे न युक्त ।
वह त्यागी है, सत्वनिष्ठ है, मेधावी है, संशयमुक्त ॥ १० ॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान और त्यागी है ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

तनुधारीसे पार्थ ! कर्मका त्याग नहीं सम्भव निःशेष ।
सच्चा त्यागी उसे जान तू जिसने छोड़े फल-उद्देश ॥ ११ ॥

क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा सपूर्णतासे सब कर्म त्यागे जाने को शक्य नहीं है, इससे जो पुरुष कर्मोंके फलका त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रंच त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

इष्ट, अनिष्ट, मिश्र फल होते सब कर्मों के तीन प्रकार ।
अत्यागी पाते मरनेपर, त्यागी कभी न पाण्डुकुमार ! ॥ १२ ॥

तथा सकामी पुरुषोंके कर्मका ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् भी होता है और त्यागी पुरुषोंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता, क्योंकि उनके द्वारा होनेवाले कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

जगमें कर्म सिद्ध होनेके लिये पाँच ही कारण, पार्थ।
कहे गये हैं सांख्य-शास्त्रमें, वे अब मुझसे जान यथार्थ ॥१३॥

और हे महाबाहो ! संपूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें यह पांच हेतु सांख्य सिद्धान्तमें कहे गये हैं, उनको तू मेरेसे भली प्रकार जान ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान है प्रथम, दूसरा कर्ता, करण तृतीय तथैव।
चौथे नाना विधि चेष्टायें और पांचवां कारण दैव ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! इस विषयमें आधार और कर्त्ता तथा न्यारे-न्यारे कारण और नाना प्रकारकी न्यारी-न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पांचवां हेतु दैव कहा गया है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तन, मन और वचनके द्वारा भले-बुरे जो कुछ भी कार्य।
करने लगता है नर, उसके ये पांचों कारण हैं आर्य ! ॥ १५ ॥

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रके अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उसके यह पांचो ही कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होनेपर भी जो नर अपनेको कर्ता ले मान।
अकृत-बुद्धि होनेके कारण वह मानव है कुमति अजान ॥१६॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण, उस विषयमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है ॥ १६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७॥

जिसे अहंकृति कभी न हो, फिर होवे मति आलेपविहीन ।
जीव मार भी, वह न मारता, कर्म बांधते उसे कभी न ॥१७॥

और हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें मैं कर्ता हूं, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बंधता है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, ऐसी है कर्म-प्रेरणा तीन प्रकार ।
करण, कर्म, कर्ता ऐसे ये तीन कर्मसंग्रहके द्वार ॥ १८ ॥

तथा हे भारत ! ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, यह तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता, करण और क्रिया यह तीनों कर्मके संग्रह हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे कर्म बनता है ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९॥

ज्ञान, कर्म, कर्ताओंके भी तीन भेद हैं गुण-अनुसार ।
कहे सांख्यमें, उनको अब तू ज्यों-के-त्यों सुन पाण्डुकुमार ! ॥१६॥

उन सबमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्यशास्त्रमें तीन प्रकारसे कहे गये हैं, उनको भी तू मेरेसे भलीप्रकार सुन ॥ १६ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिससे भिन्न-भिन्न भूतोंमें अविभाजित, अविकारी एक ।
तत्त्व दिखाई पड़े पुरुषको, होता 'सात्त्विक' वही विवेक ॥२०॥

हे अर्जुन ! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित, समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

न्यारे-न्यारे सब भूतोंमें पृथक्य भावकी हो पहिचान ।
जिस विवेकद्वारा हे अर्जुन ! कहते उसको 'राजस' ज्ञान ॥२१॥

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा, मनुष्य संपूर्ण भूतोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञानको तू राजस ज्ञान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

एक कार्यमें सब कुछ गिन कर लगा हुआ हो कारणहीन ।
तुच्छ और तत्वार्थ-रहित जो हो, वह 'तामस' ज्ञान मलीन ॥२२॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही संपूर्णता के सदृश आसक्त है अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक

क्षणभंगुर, नाशवान शरीरको हीआत्मा मानकर उसमें सर्वस्वकी भांति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला तत्व अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

फल-आशा त्यागीसे, नियमित किया जाय जो कुछ भी कार्य ।
राग, द्वेष, आसक्ति-हीन, वह कहलाता 'सात्विक' हे आर्य ॥२३॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलके न चाहनेवाले पुरुष-द्वारा, बिना रागद्वेषसे किया हुआ है वह कर्म तो सात्विक कहा जाता है ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

फल-आशा रख अति ही श्रमसे अहंकारसंयुत जो काम ।
किया जाय पुरुषोंसे उसका कुन्तीसुत ! है 'राजस' नाम ॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है तथा फलको चाहने-वाले और अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

फल शुभ-अशुभ और क्षय, हिंसा, निज पौरुषका देख न मर्म ।
किया जाय आरम्भ मोहसे, उसको कहते 'तामस' कर्म ॥२५॥

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

हो न जिसे आसक्ति-अहंकृति; जो उत्साह-धैर्यकी खान ।
सिद्धि-असिद्धि बीच अविकारी वह कर्ता है 'सत्व' प्रधान ॥२६॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्ता आसक्तिसे रहित और अहंकार के वचन न बोलनेवाला धैर्य और उत्साहसे युक्त एवं कार्यके सिद्ध होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ॥२६।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

विषयासक्त, कर्म-फल-इच्छुक, लोभी, हिंसक, अति अपवित्र ।
हर्ष-शोक जिसको होते हैं वह कर्ता राजस है; मित्र ! ॥२७॥

और जो आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देनेके स्वभाववाला अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है ।२७।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

चंचलबुद्धि; असभ्य, घमंडो, शठ, औरोंको जो दे कष्ट ।
अलस; विषादी; और सुस्त जो तामस कर्ता है वह स्पष्ट ॥२८॥

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षासे रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरेकी आजीविकाका नाशक एवं शोक करनेके स्वभाववाला; आलसी और दीर्घसूत्री है, वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धि और धृतिके भी अर्जुन ! तीन भेद हैं गुण अनुसार।
अलग-अलग कर समझाता हूं उनको सुन तू सर्वप्रकार ॥२९॥

तथा हे अर्जुन ! तू बुद्धिका और धारणशक्तिका भी गुणोंके कारण तीन प्रकारका भेद संपूर्णतासे बिभागपूर्वक मेरेसे कहा हुआ सुन ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिःसा पार्थ सात्विकी॥३०॥

कार्य; अकार्य तथैव भयाभय उनमें और निवृत्ति प्रवृत्ति।
तथा जानती बन्ध–मोक्षको उस मतिकी है सात्विक' वृत्ति ॥३०॥

हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको एवं भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्विकी है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

जिसके द्वारा पुरुष कभी निज धर्म; अधर्म स्वकार्य, अकार्य।
नहीं जान सकता विधिपूर्वक वही बुद्धि है 'राजस' आर्य ॥३१॥

और हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य, धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

बुद्धि 'तामसी' है वह जिससे हो अधर्ममें धर्म-ज्ञान।
तमसे व्याप्त हुई जो लेती सब अर्थोंको उलटे मान ॥३२॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

अनारम्भ कर्मोंके से ही पुरुष नहीं होता निष्काम ।
और त्याग कर्मोंके से भी नहीं सिद्धिका मिलता धाम ॥४॥

परन्तु किसी भी मार्गके अनुसार कर्मों को स्वरूप से त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मों के न करनेसे निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्रसे भगवत्-साक्षात्कार रूप सिद्धिको प्राप्त होता है ॥४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

बिना कर्मके क्षणभर कोई कभी नहीं रह सकता मित्र ।
प्रकृतिज गुण कर विबश पुरुषसे करवाते हैं कम विचित्र ॥५॥

तथा सर्वथा कर्मों का स्वरूपसे त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निःसन्देह सब ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्मेन्द्रियको रोक चित्तमें विषयोंका जो करता ध्यान ।
पंडितजन उस महा मूढ़को मिथ्याचारी कहें महान ॥६॥

इसलिये जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर, इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

मनसे रोक इन्द्रियां जो नर, अनासक्त होकर, हे पार्थ !
कर्मेन्द्रियद्वारा करता है कर्मोंको, वह श्रेष्ठ यथार्थ ॥७॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके, अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियत कर्म कर, नहीं कियेसे श्रेष्ठ यही है करना कर्म ।
बिना कर्मके ठीक नहीं सध सकता कभी देहका धर्म ॥८॥

इसलिये तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञ-हेतुको छोड़ अन्य सब कर्म निबन्धन करते पार्थ ! ।
इससे तज, आसक्ति वीरवर ! कर स्वकर्म सब ही यज्ञार्थ ॥९॥

और हे अर्जुन ! बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है क्योंकि यज्ञ अर्थात् विष्णुके निमित्त किये हुए कर्मके सिवाय, अन्य कर्ममें लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बंधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्तिसे रहित हुआ, उस परमेश्वरके निमित्त, कर्मोंका भली प्रकार आचरण कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजा यज्ञके साथ बना विधि बोले पहिले ऐसी बात।
यह इच्छित फलदाता होवे, इससे बढ़ो सभी तुम तात! ॥१०॥

तथा कर्म न करनेसे तू पापको भी प्राप्त होगा, क्योंकि प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा तुमलोग वृद्धिको प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित कामनाओंके देनेवाला होवे ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इससे तुष्ट करो देवोंको देव करे तुमको सन्तुष्ट।
आपसमें इस भाँति तुष्ट रह पाओ परम श्रेय, हो पुष्ट ॥११॥

तथा तुमलोग इस यज्ञ द्वारा देवताओंकी उन्नति करो और वे देवता लोग तुमलोगोंकी उन्नति करें। इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

हो सन्तुष्ट यज्ञसे सुरगण देंगे इच्छित भोग निदान।
उनका दिया न उनको देकर जो भोगें वे चोर महान ॥१२॥

तथा यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना मांगे ही प्रिय भोगोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष इनकेलिये बिना दिये ही भोगता है, वह निश्चय चोर है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञशेष जो भोजन करते वे जन होते हैं निष्पाप ।
जो अपने ही लिये पकाते पाप भोगते अपने आप ॥१३॥

कारण, कि यज्ञसे शेषः बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापी लोग अपने शरीर-पोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

होते प्राणी सभी अन्नसे और मेघसे होता अन्न ।
यज्ञ मेघ पैदा करता है, यज्ञ कर्मसे हो उत्पन्न ॥१४॥

क्योंकि संपूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नको उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वृष्टि यज्ञसे होती है और वह यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होनेवाला है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म ब्रह्मसे पैदा होता, अक्षरसे हो ब्रह्म सुजान ।
इससे सर्व व्याप्त ब्रह्मको सदा यज्ञमें स्थित तू मान ॥१५॥

तथा उस कर्मोंको तू वेदसे उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर, परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

ऐसे यज्ञ-चक्रको आगे जो न चलाता जगके अर्थ ।
उस अघायु, इन्द्रियलम्पटका इस जगमें है जीवन व्यर्थ ॥१६॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार चलाये हुए

सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं बर्तता है अर्थात् शास्त्रअनुसार कर्मोंको नहीं करता है, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १७ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

आत्माहीमें जो नर रत है तृप्त आत्म-सुखसे सविशेष ।
जो सन्तुष्ट इसीमें, उसका है कर्त्तव्य नहीं कुछ शेष ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें प्रीतिवाला और आत्माहीमें तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट होवे, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसको कुछ भी लाभ नहीं है किये और न कियेसे कार्य ।
उसका सब जीवोंमें कुछ भी नहीं प्रयोजन रहता आर्य ॥१८॥

क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका संपूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं ॥१८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

जब ऐसा है तब तू भी यों तज आसक्ति, किया कर काम ।
जो मनुष्य ऐसा करते हैं पाते परम मोक्षका धाम ॥१९॥

इससे तू अनासक्त हुआ, निरन्तर कर्तव्यकर्मका अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

ऐसे ही जनकादिकने भी पाई सिद्धि कर्मसे वीर ! ।
दृष्टि लोक-संग्रहपर भी दें तो भी कर्म उचित रणधीर ! ॥२०॥

इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति-रहित कर्मद्वारा ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखता हुआ भी, तू कर्म करनेको ही योग्य है ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है करते वही पुरुष सामान्य ।
जो प्रमाण उनका होता है वे कर लेते उसको मान्य ॥२१॥

क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

त्रिभुवनमें अवशिष्ठ हमारा रहा नहीं कुछ भी उद्देश ।
सब कुछ पाया है, तो भी हम करते रहते कर्म विशेष ॥२२॥

इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किञ्चित भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि तज मैं आलस्य कर्मका करना नहीं करूँ स्वीकार ।
तो जगमें सब लोग चलेंगे इस मेरे पथके अनुसार ॥२३॥

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्ममें न बर्तूं तो हे अर्जुन ! सब प्रकारसे मनुष्य मेरे बर्तावके अनुसार बर्तते हैं अर्थात् बर्तने लग जायं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

जो मैं कर्म न करुँ पार्थ ! तो सारे मानव होंगे भ्रष्ट ।
मैं संकरकर्ता कहलाऊँ होयँ प्रजायें मुझसे नष्ट ॥२४॥

तथा यदि मैं कर्म न करूं तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायं और मैं वर्णसंकरका करनेवाला होऊं तथा इस सारी प्रजाको हनन करूं अर्थात् मारनेवाला बनूं ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

रहकर कर्मासक्त मूर्ख जन जैसे करते हैं बर्ताव ।
कर्म, लोक-संग्रह-हित ज्ञानी, करें छोड़ आसक्ति-स्वभाव ॥२५॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्मासक्त मूर्खकी मतिमें पंडित भेद न डाले पार्थ ! ।
कर्म-करावे लोगोंसे, हो, युक्त स्वयं भी करे यथार्थ ॥२६॥

तथा ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले

अज्ञानियों की बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ और सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ, उनसे भी वैसे ही करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृति-गुणोंसे सब प्रकारके कर्म हुआ करते हैं आप ।
अहङ्कार-वश "मैं करता हूं" ऐसा करते अज्ञ प्रलाप ॥२७॥

और हे अर्जुन ! वास्तव में संपूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, मैं कर्ता हूं ऐसे मान लेता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

ये गुण-कर्म भिन्न हैं मुझसे, है ऐसा जिसके मन ज्ञान ।
वह इनमें आसक्त न होता खेल गुणोंका गुणमें जान ॥ २८॥

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष, संपूर्ण गुण गुणोंमें वर्तते हैं ऐसे मान-कर नहीं आसक्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिगुणोंसे मोहित मानव गुण-कर्मोंमें रहते सक्त ।
उन अल्पज्ञ मन्द मनुजोंको चलित न करें ब्रह्मके भक्त ॥२९॥

और प्रकृति के गुणोंसे मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं, उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले मूर्खों को अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे ॥ २९।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ज्ञानदृष्टिसे मुझमें सारे कर्मोंका कर न्यास यथार्थ ।
आशा, ममता दोनों तजकर बेखटके होकर लड़ पार्थ ॥३०॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू ध्याननिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित और ममतारहित होकर, संतापरहित हुआ युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

दोषदृष्टिको मानव तजकर, हो करके अति श्रद्धायुक्त ।
मेरे मतका नित्य आचरण करें, कर्मसे होवें मुक्त ॥ ३१ ॥

और हे अर्जुन ! जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित और श्रद्धासे युक्त हुए सदा हो मेरे इस मतके अनुसार बर्तते हैं, वे पुरुष संपूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

दोषदृष्टिसे मेरे मतका जो नर नहीं करें बरताव ।
उनको नष्ट हुए ही समझो वे अविवेकी मूढ़ स्वभाव ॥ ३२ ॥

और जो दोषदृष्टिवाले मूर्खलोग इस मेरे मतके अनुसार नहीं बर्तते हैं, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित चित्तवालोंको तू कल्याणसे भ्रष्ट हुए ही जान ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

निज स्वभाव-अनुसार यत्न नित ज्ञानो भी करते रणधीर।
प्राप्त प्रकृतिको प्राणी होते निग्रह क्या कर सकता वीर ॥३३॥

क्योंकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रति इन्द्रियके निज विषयोंमें राग-द्वेष व्यवस्थित जान।
इनके वशमें कभी न आना ये नरके हैं शत्रु महान ॥ ३४ ॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित जो राग और द्वेष हैं, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे, क्योंकि इसके वे दोनों ही कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

हो परधर्म रुचिर, गुणवाला, पर स्वधर्म निर्गुण भी श्रेय।
मरना भी शुभ है स्वधर्ममें, धर्म पराया भयप्रद हेय ॥ ३५ ॥

इसलिये उन दोनोंको जीतकर सावधान हुआ स्वधर्मका आचरण करे, क्योंकि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है, अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

प्रेरित हुआ बिना इच्छाके हठसे जन यह अपने आप।
किसकी अहो! प्रेरणा पाकर वार्ष्णेय! करता है पाप?॥३६॥

इसपर अर्जुनने पूछा कि हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश, न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है?॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥३७॥

पापी पेटू काम तथा यह क्रोध, पार्थ! तू ऐसा जान।
हों उत्पन्न रजोगुणद्वारा, ये जनके हैं शत्रु महान॥ ३७॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह ही महाअशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे, न तृप्त होनेवाला और और बड़ा पापी है; इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥३८॥

अग्नि धूमसे, मलसे दर्पण, झिल्लीसे ज्यों गर्भ महान।
ढके हुए रहते हैं, त्यों ही रहता ढका कामसे ज्ञान॥ ३८॥

जैसे धुएंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

ज्ञानीका तो नित्य शत्रु, यह कामरूप है अग्नि समान।
कभी तृप्त हो नहीं, इसीने कौन्तेय! ढक रक्खा ज्ञान॥३९॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निसदृश न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य-वैरीसे ज्ञान ढका हुआ है ।३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियगणको, मन सुबुद्धिको, इसका गढ़ कहते हैं वीर ! ।
इनके द्वारा ज्ञान ढांककर यह मोहित करता नर धीर ॥४०॥

तथा इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके इस जीवात्माको मोहित करता है ॥४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इससे पहिले इन्द्रियसंयम करके कर तू इसका नाश ।
जिस पापीने नष्ट किया है पूर्ण ज्ञान, विज्ञानप्रकाश ॥ ४१ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तू पहिले इन्द्रियोंको वशमें करके, ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस काम पापीको निश्चयपूर्वक मार ॥४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

देहादिकसे सूक्ष्म इन्द्रियां इनसे मन है सूक्ष्म सुजान ! ।
मनसे सूक्ष्म बुद्धि है उससे आत्मा है फिर सूक्ष्म महान ॥४२॥

और यदि तूं समझे कि इन्द्रियोंको रोककर कामरूप बैरीको मारनेकी मेरी शक्ति नहीं हैं तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीरसे तो इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ऐसे बुद्धिपरे आत्माको जान, चित्त निश्चल कर पार्थ!।
काम-रूप इस दुजय रिपुको महाबाहु! तू मार यथार्थ ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्मा को जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाँ
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥



चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

मैंने यह स्थिर योग कहा था विवस्वानको हे रणधीर ! ।
विवस्वानने मनुको, मनुने निज इक्ष्वाकु पुत्रको, वीर ॥ १ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुके प्रति कहा ॥१॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

ऐसे परम्परासे पाये हुए इसे जाने ऋषिलोग ।
योग नष्ट फिर हुआ लोकमें दीर्घ कालका पा संयोग ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इसयोगको राजर्षियोने जाना परन्तु हे अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लोप (प्रायः) हो गया था ॥२॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वही योग यह परम पुरातन मैंने, उत्तम गोप्य रहस्य ।
बतलाया है तुझे इसलिए, तू है मेरा भक्त, वयस्य ॥ ३ ॥

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये तथा यह योग बहुत उत्तम और रहस्य अर्थात् अति मर्मका विषय है ॥३॥

अर्जुनउवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

तुम तो जन्मे हो अब, रविको हुए बहुत बीता है काल ।
कैसे मानूं, तुमने पहिले उसे कहा था योग विशाल ॥ ४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके बचन सुनकर अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! आपका जन्मतो आधुनिक अर्थात् अब हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है, इसलिये इस कल्पके आदिमें आपने कहा था यह मैं कैसे जानूं ? ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

तेरे मेरे जन्म अनेकों बार हुए हैं सुन धर ध्यान ।
उन्हें जानता हूं मैं, अर्जुन ! तुझे नहीं है उनका ज्ञान ॥५॥

इसपर श्रीकृष्ण महाराज बोले हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म हो चुके हैं, परन्तु, हे परंतप ! उन सबको तूं नहीं जानता है और मैं जानता हूं ॥५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि जन्मरहित, अव्यय हूं, भूत-संघका ईश यथार्थ ।
तो भी स्थित हो निज-प्रकृतिमें जन्मूँ निज मायासे पार्थ ! ॥६

तथा मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है, मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको आधीन करके योगमायासे प्रगट होता हूं ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

जब-जब ग्लानि धर्मकी होती और पापका बढ़े प्रचार ।
हे भारत ! तब-तब मैं आकर स्वयं लिया करता अवतार ॥७॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूं अर्थात् प्रकट करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुजनोंकी रक्षा करने दुष्टोंका करने संहार ।
युग-युगमें पैदा होता हूं स्थित करनेको धर्माचार ॥ ८ ॥

क्योंकि साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म स्थापन करनेके लिये, युग युगमें प्रकट होता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

मेरे दिव्य सुजन्म, कर्मको जो लेता है जान यथार्थ ।
देह छोड़कर जन्म न लेता मुझसे आ मिलता है पार्थ ॥९॥

इसलिये, हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौलिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

मेरे आश्रित, मत्पर होकर, राग, क्रोध, भयसे हो हीन ।
बहुत ज्ञान-तपसे शुचि होकर मम स्वरूपमें हुए विलीन ॥१०॥

और हे अर्जुन ! पहिले भी राग, भय और क्रोधसे रहित अनन्यभावसे मेरेमें स्थितिवाले मेरे शरण हुए बहुत से पुरुष, ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥१०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो भजते जिस भाँति मुझे हैं फल दूं उनको उसी प्रकार ।
मेरे ही उस एक मार्गसे मानव सारे होते पार ॥ ११ ॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं, इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं। ११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म-सिद्धिकी इच्छा करके देव-अर्चना करते लोग ।
क्योंकि यहाँपर जल्दी मिलते उनको कर्म-सिद्धिके भोग ॥१२

और जो मेरेको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, वे पुरुष, इस मनुष्य लोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए देवताओंको पूजते हैं और उनके कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है, परन्तु उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये तू मेरेको ही सब प्रकार से भज ॥ १२

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चारों वर्ण रचे मैंने गुण-कर्म भेदसे हे मतिमान ।
मुझ इनके कर्त्ताको भी अविनाशी अक्रिय ही तू जान ॥ १३ ॥

तथा हे अर्जुन! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्त्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्त्ता ही जान ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

कर्म न बांधे मुझे, न मेरी इच्छा कर्मफलोंमें युक्त।
जो मुझको इस भाँति जान ले वह कर्मोंसे होता मुक्त ॥ १४ ॥

क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इस लिये मेरे को कर्म लिपायमान नहीं करते, इस प्रकार जो मेरेको तत्त्वसे जानता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बंधता है ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

यही जानकर मुमुक्षुओंने पहिले कर्म किया था पार्थ।
इस कारण कर तू वह पहिले पूर्वज-कृत ही कर्म यथार्थ ॥१५॥

तथा पहिले होनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है, इससे तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये हुए कर्मको ही कर ॥१५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

इसमें कवि भी भ्रम-वश होते कौन कर्म है, कौन अकर्म।
कहूं कर्म वह, जिसे जान तू पाप-मुक्त हो, पावे शर्म ॥१६॥

परन्तु कर्म क्या है और अकर्म क्या है? ऐसे इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं, इसलिये मैं, वह कर्म अर्थात कर्मोंका तत्त्व तेरे लिये अच्छी प्रकार कहूंगा, कि जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात संसारबन्धनसे छूट जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

ज्ञान कर्मका कर, विकर्मका भी तू परिचय जान यथार्थ।
फिर अकर्मभी जान पूर्ण तू, गहन कर्मकी गति पाथ ! ॥१७॥

कर्मका स्वरुप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरुप भी जानना चाहिये; तथा निषिद्ध कर्मका स्वरुप भी जानना चाहिये क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो अकर्म में कर्म देखता और कर्ममें लखे अकर्म।
सबमें ज्ञानी, युक्त वही नर करनेवाला है सब कर्म ॥ १८ ॥

जो पुरुष कर्म अर्थात अहंकाररहित की हुई संपूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्म में अर्थात अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए संपूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी, कर्मको अर्थात त्यागरूप क्रियाको देखे वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान है और वह योगी संपूर्ण कर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

काम-वासना-विरहित होते जिस नरके सारे उद्योग।
ज्ञान अग्निसे कर्म जले हों उसको बुध कहते बुध लोग ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

तज आसक्ति कर्मफलकी जो नित्य निराश्रय, तृप्त महान ।
मग्न हुआ भी वह कर्मोंमें कर्म नहीं कुछ करे सुजान ॥ २० ॥

और जो पुरुष, सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त है, वह कर्मोंके फल और सङ्ग अर्थात कर्तृत्व-अभिमानको त्याग कर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

आशारहित, सु-संयत मानस, तजकर सर्वपरिग्रह आप ।
केवल शारीरिक कर्मोंको करता, उसे न होता पाप ॥ २१ ॥

और जीत लिया हैं अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है संपूर्ण भोगोंकी सामग्री जिसने, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्मको करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

मिले आपसे तुष्ट उसीमें द्वन्द्वरहित है निर्मत्सर ।
सिद्धि असिद्धि समान माननेवाला बद्ध न होता नर ॥ २२ ॥

और अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो उसमें ही संतुष्ट रहनेवाला और हर्ष शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात ईर्ष्यासे रहित सिद्धि और असिद्धिमें समत्व-भाववाला पुरुष, कर्मोंको करके भी नहीं बंधता है ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

संग-रहित है मुक्त, ज्ञानमें स्थिर हैं जिसका चित्त यथार्थ ।
यज्ञ-अर्थ करनेवालेके कर्म विलीन सभी हैं पार्थ ! ॥ २३ ॥

क्योंकि आसक्तिसे रहित ज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिये आचरण करते हुए, मुक्त पुरुषके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अर्पण ब्रह्म, ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्म अग्निमें होता ब्रह्म ।
जिसकी मतिमें कर्म ब्रह्ममय, मिल जाता है उसको ब्रह्म ॥२४

उन यज्ञके लिये आचरण करनेवाले पुरुषोंमेंसे कोई तो इस भावसे यज्ञ करते हैं, कि अर्पण अर्थात स्रुवादिक भी ब्रह्म हैं और हवि अर्थात हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्त्ताके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

करते हैं कोई योगी जन यज्ञ देवहीके उद्देश ।
कोई ब्रह्म-अग्निमें करते यज्ञ, यज्ञसे यजन-विशेष ॥ २५ ॥

और दूसरे योगी जन देवताओंके पूजनरूप यज्ञको ही अच्छी प्रकार उपासते हैं, अर्थात करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञका हवन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

कोई कर्णादिक इन्द्रियका संयमाग्निमें करते याग ।
कोई-शब्दादिक विषयोंका इन्द्रियाग्निमें करते त्याग ॥ २६ ॥

अन्य योगिजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियोंका संयम अर्थात स्वाधीनतारूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात इन्द्रियोंको विषयों से रोककर अपने वशमें कर लेते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात रागद्वेष रहित इन्द्रिय द्वारा विषयोंको ग्रहण करते हुए भी भस्मरूप करते हैं॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

कुछ जन सब इन्द्रिय-कर्मोंको और प्राण-कर्मोंको खींच ।
करते हवन ज्ञानसे दीपित आत्म-नियम योगानल-बीच ॥ २७॥

और दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको तथा प्राणोंके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित हुई, परमात्मामें स्थितिरूप योगाग्निमें हवन करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८

द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ योगमय यज्ञ करैं कुछ लोग तथैव ।
ज्ञान और स्वध्याय-यज्ञको ब्रह्मव्रती यति करैं सदैव ॥ २८ ॥

और दूसरे कई पुरुष ईश्वर अर्पण बुद्धिसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेवाले है, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्मपालनरूप तपयज्ञ को करनेवाले और कई अष्टाङ्ग योगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवानके

नामका जप तथा भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

होमें प्राण अपान-वायुमें और प्राणमें तजे अपान ।
रोकें-प्राण अपान वेगको प्राणायाम-निमग्न सुजान ॥ २९ ॥

और दूसरे योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर, प्राणायामके परायण होते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कर नियमित आहार, हवन जो करते प्राणोंमें हो प्राण ।
यज्ञ-विज्ञ हैं वे ही मानव उनको तू निष्कल्मष जान ॥ ३० ॥

और दूसरे नियमित आहार करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं, इस प्रकार यज्ञोंद्वारा नाश हो गया है पाप जिनका, ऐसे यह सब ही पुरुष यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

यज्ञ-शेषके खानेवाले पावें ब्रह्म सनातन तात ! ।
यज्ञ रहितका नहीं लोक यह स्वर्गलोकको फिर क्या बात ॥ ३१ ॥

और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञोंके परिणामरूप ज्ञानामृतको भोगनेवाले योगीजन, सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुषको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

पार्थ ? ब्रह्मके मुखमें होते इस प्रकारसे यज्ञ अनेक ।
कर्मज हैं ये जान, इसीसे मोक्ष प्राप्त होगा सविवेक ॥ ३२॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंको क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान इस प्रकार तत्वसे जानकर निष्काम कर्मयोग द्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

द्रव्य यज्ञसे यज्ञ श्रेष्ठ वह जिसको सब कहते हैं ज्ञान ।
क्योंकि, सभी कर्मोंका होता इसी ज्ञानमें पर्यवसान ॥ ३३ ॥

और हे अर्जुन ! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले यज्ञसे ज्ञान रूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! संपूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात ज्ञान उनको पराकाष्ठा है ॥ ३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥३४॥

ध्यान रहे प्रणिपात, प्रश्नसे और किये सेवासे पार्थ ! ।
तत्ववेत्ता ज्ञानी-जन वह देंगे तुझको ज्ञान यथार्थ ॥३४॥

इसलिये तत्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्न-द्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

मोह नहीं तुझको फिर होगा प्र करके यह ऐसा ज्ञान ।
अपनेमें, मेरेमें भी तू देखेगा सब जीव समान ॥ ३५ ॥

कि, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप हुआ अपने अन्तर्गत समष्टि-बुद्धिके आधार संपूर्ण भूतोंको देखेगा और उसके उपरान्त मेरेमें अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूपमें एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

सब पापी पुरुषोंसे भी यदि तू है अति ही पापाचार ।
तोभी ज्ञान-नावपर चढ़कर होगा सब पापोंसे पार ॥ ३६ ॥

और यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी ज्ञानरूप नौका द्वारा निःसन्देह संपूर्ण पापोंको अच्छी प्रकार तर जायगा ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे जलती अग्नि, समिधको कर देती है भस्म तुरन्त ।
वैसे ज्ञान-अनल भी अर्जुन ! जला डालती कर्म अनन्त ॥३७॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देती है ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

नहीं वस्तु कुछ और जगतमें है पवित्र इस ज्ञान-समान ।
योग-सिद्धिसे, समय हुए पर, अपनेमें नर पाता ज्ञान ॥ ३८ ॥

इसलिये इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, उस ज्ञानको कितनेक कालसे अपने आप समत्व बुद्धिरूप योगके द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मामें अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान, जितेन्द्रिय, तत्पर नरको यह मिलता है ज्ञान ।
ज्ञान प्राप्तकर फिर तुरन्त वह हो जाता है शान्ति-निधान ॥३९॥

और हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति-रूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

हो विनष्ट वह संशययुत जो अज्ञानी है, श्रद्धा-हीन ।
यह न, तथा परलोक मिले, उस संशयवालेको सुख भी न ॥४०॥

और हे अर्जुन ! भगवत्-विषयको न जाननेवाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, उनमें भी संशययुक्त पुरुषके लिये तो न सुख है और न यह लोक है न परलोक है, अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिये भ्रष्ट हो जाते हैं ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१॥

जिसने कर्म, योगसे त्यागे, किये ज्ञानसे संशय दूर।
आत्मवान उन मानवको फिर कर्म नहीं बांधे हे शूर !॥४१॥

और हे धनंजय ! समत्व बुद्धिरूप योगद्वारा भगवत्-अर्पण कर दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने और ज्ञानद्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके, ऐसे परमात्मपरायण पुरुषको कर्म नहीं बांधते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इससे इस अज्ञानज भ्रमको काट ज्ञानकी ले तलवार।
कर्म-योगका आश्रय लेकर उठ लड़नेको हो तैयार ॥४२॥

इससे हे भरतवंशी अर्जुन ! तूं समत्वबुद्धिरूप योगमें स्थित हो और अज्ञानसे उत्पन्न हुए हृदयमें स्थित इस अपने संशयको ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके युद्धके लिये खड़ा हो ॥४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाँ
योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यास
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

कर्म-योग बतलाते हो अब पहले कहा कर्मका त्याग ।
निश्चय मुझे एक बतलाओ जो हो अधिक श्रेय, बड़भाग! ॥१॥

उसके उपरान्त अर्जुनने पूछा, हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हो, इसलिये इन दोनोंमें एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे, उसको मेरे लिये कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

न्यास कर्मका और योग, ये दोनों मोक्षप्रद हैं पार्थ ! ।
पर इनमें है कर्म-त्यागसे कर्मयोग ही श्रेष्ठ यथार्थ ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले हे अर्जुन ! कर्मोंका संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्त्तापनका त्याग और निष्काम कर्मयोग अर्थात् समत्वबुद्धिसे भगवत्-अर्थ कर्मोंका करना, यह दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्मयोग साधनमें सुगम होने से श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

नहीं द्वेष, आकांक्षा जिसको वह पूरा संन्यासी, वीर ! ।
द्वन्द्व-मुक्त वह, अनायास ही मुक्त बन्धसे होता धीर ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य, योगको भिन्न मूढ़जन कहते, पंडित नहीं सुजान ! ।
पूर्ण आचरण करें एकका फल दोनोंका मिले समान ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्काम कर्मयोगको मूर्खलोग अलग-अलग फलवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमें से एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके एकस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

जहाँ सांख्यवाले जाते हैं योगी भी पाते वह स्थान ।
जिसने सांख्य, योग सम जाना उसने तत्व लिया पहचान ॥५॥

तथा ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको फलरूपसे एक देखता है, वह ही यथार्थ देखता है ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

बिना योग संन्यास-प्राप्ति यह अति दुर्लभ होती है तात ! ।
योग-युक्त मुनि जो होता है पाता वही ब्रह्म अचिरात ॥ ६ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! निष्काम कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योग-युक्त, मन शुद्ध, जितेन्द्रिय, आत्मजयी जो हुआ यथार्थ ।
करता हुआ कर्म समदर्शी नहीं लिप्त होता है पार्थ ! ॥ ७ ॥

तथा वशमें किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला एवं संपूर्ण प्राणियोंके आत्मस्वरूप परमात्मामें एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन ॥ ९ ॥

योग-युक्त तत्वज्ञ मानता कुछ भी नहीं करूँ मैं आप ।
लखना, सुनना, स्पर्श, सूंघना, खाना, जाना, जीना, स्वाप ॥८॥
कहना, तजना, और पकड़ना, पलक खोलना, करना बन्द ।
इनमें यह जाने कि इन्द्रियाँ विषयोंमें वर्तें स्वच्छन्द ॥९॥

और हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ,

भेजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियां अपने अपने अर्थोंमें वर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसे माने, कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं ! ॥८-९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

संगरहित हो ब्रह्मार्पण कर जो कर्मोंको करता आप ।
जलें ज्यों कमल-पत्रपर, वैसे लगता नहीं उसे कुछ पाप ॥१०॥

परन्तु हे अर्जुन ! देहाभिमानियोंद्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्काम कर्मयोग सुगम है, क्योंकि जो पुरुष सबकर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी सदृश पापसे लिपायमान नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनःकर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायासे, मन और बुद्धिसे केवल इन्द्रियसे भी पार्थ ! ।
संग छोड़कर योगी-जन यों करते कर्म आत्मशोधार्थ ॥ ११ ॥

इसीलिये निष्काम कर्मयोगीममत्व बुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्याग कर अन्तः करणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

जो है अयुक्त कर्म-फल तज वह पूर्ण शान्तिको पाता भक्त ।
जो अयुक्त है बँध जाता वह, कर्म-फलोंमें हो आसक्त ॥१२॥

इसीसे निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बंधता है, इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यास्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन ॥१३॥

मनसे तजकर कर्म जितेन्द्रिय देहवान मानुष, हे वीर! ।
बिना किये करवाये बसता नवद्वार-पुरमें वह धीर ॥ १३ ॥

और हे अर्जुन! वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्य-योगका आचरण करनेवाला पुरुष तो निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्याग कर अर्थात इन्द्रियां इन्द्रियोंके अर्थोंमें बर्तती हैं ऐसे मानता हुआ, आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरुपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४॥

लोगोंके कर्तृत्व, कर्म फिर कर्मों और फलोंका मेल ।
ईश्वर रचता नहीं, प्रकृतिके ये होते हैं सारे खेल ॥ १४ ॥

और परमेश्वर भी भूतप्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मोंको तथा न कर्मोंके फलके संयोगको वास्तवमें रचता है किन्तु परमात्माके सकाशसे प्रकृति ही बर्तती है, अर्थात गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५॥

ईश न लेता पुण्य किसीका नहीं किसीका लेता पाप ।
है पर्दा अज्ञान.ज्ञानपर जिससे मोहित प्राणी आप ॥ १५ ॥

और सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको भी ग्रहण करता है, किन्तु मायाके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

जिनका आत्मज्ञानके द्वारा मिट जाता है सब अज्ञान ।
कर देता है ज्ञान उन्हींका तत्व प्रकाशित सूर्य समान ॥ १६ ॥

परन्तु जिनका वह अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदा-नंदघन परमात्माको प्रकाशता है, अर्थात परमात्माके स्वरूपको साक्षात कराता है, ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृतिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

उनमें लगा बुद्धि आत्माको हो तन्निष्ठ तथा तत्पर ।
निष्कल्मष होकर विवेकसे जन्म न लेते फिर वे नर ॥ १७ ॥

और हे अर्जुन ! तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानंदघन परमात्मामें ही निरंतर एकीभावसे स्थिति है जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

जो आपेमें सुखी, रमे जो अपने ही में ज्योति प्रकाश ।
ब्रह्म-रूप होते वे योगी पाते परम ब्रह्ममें वास ॥२४॥

जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मामें ही सुखवाला है और आत्मामें ही आरामवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

आत्मसंयमी, पापरहित जो होकर द्वन्द्व-बुद्धिसे हीन ।
सर्वभूत-हित रत रहते हैं वे ही होते ब्रह्म विलीन ॥२५॥

और नाश हो गये हैं सब पाप जिनके तथा ज्ञान करके निवृत हो गया है संशय जिनका और संपूर्ण भूतप्राणियोंके हितमें है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवानके ध्यानमें चित्त जिनका, ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

तजकर काम, क्रोधको जो यति संयम आत्मज्ञान-सम्पन्न ।
चारों ओर ब्रह्मको पाता उभय लोकमें रहे प्रसन्न ॥२६॥

और काम, क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त हैं ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

बाह्य-विषय कर दूर, दृष्टिको अपने भ्रूकुटी-युगमें धार ।
सम कर प्राण अपान, करे जो नासाके भीतर संचार ॥२७॥

और हे अर्जुन! बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

इन्द्रिय, मन, मति रोक, क्रोध, भय तज, इच्छामें हो न प्रयुक्त।
मोक्ष-परायण ऐसे मुनिको जान सदा ही भवसे मुक्त ॥२८॥

जीती हुई है इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा भय और क्रोधसे रहित है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्ता मुझको यज्ञ तपोंका और नाथ लोकोंका तात!।
जाने सुहृद प्राणियोंका भी, वही मोक्ष पाता अचिरात ॥२९॥

और हे अर्जुन मेरा भक्त मेरेको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और संपूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है और सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण शान्त ब्रह्मके सिवाय उसकी दृष्टिमें और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही वासुदेव रह जाता है ॥ २९ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यास-
योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

फल तज योग्य कर्म जो करता वह योगी संन्यासी जान ।
हवन, कर्म तजनेवालेको सच्चा योगी कभी न मान ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी योगी नहीं है तथा केवल क्रियाओंको त्यागनेवाला भी संन्यासी योगी नहीं है ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

जिसे कहें संन्यास उसे ही योग चाहिये कहना वीर ! ।
संकल्पोंके त्याग बिना नर योगी होता कभी न धीर ॥ २ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान क्योंकि संकल्पोंको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगसिद्धि-इच्छुक मानवके लिये कर्म कारण है, पार्थ ! ।
योग सिद्ध होनेके पीछे कारण होती शान्ति यथार्थ ॥ ३ ॥

और समत्वबुद्धिरूप योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना

ही हेतु कहा है और योगारूढ़ पुरुषके लिये सर्व संकल्पोंका अभाव ही कल्याणमें हेतु कहा है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अनासक्त विषयोंमें रहकर कर्मोंमें भी रखे विरक्ति ।
तज देवे संकल्प सभी तब योगारूढ़ कहाता व्यक्ति ॥ ४ ॥

और जिसकालमें न तो इन्द्रियोंके भोगमें आसक्त होता है तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उसकालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

निज उद्धार करे निजसे नित निजको नहीं गिरावे, तात ! ।
आत्मा ही आत्माका वैरी आत्मा ही आत्माका भ्रात ॥ ५ ॥

और यह योगारूढ़ता कल्याणमें हेतु कही है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि अपने द्वारा आपका संसारसमुद्रसे उद्धार करे और अपने आत्माको अधोगतिमें न पहुंचावे क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने जीता स्वयं आपको है वह अपना बन्धु महान ।
बिन जाने वह स्वयं आपसे करे शत्रुता शत्रु समान ॥ ६ ॥

उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है, कि जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है और

जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसका वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुतामें वर्तता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

आत्मजयी, अतिशान्त पुरुषका आत्मा रहता सदा समान ।
शीत, उष्ण, सुख, दुख भी पाकर मान तथा अपमान महान ॥७॥

और हे अर्जुन ! सर्दी गर्मी और सुख-दुःखादिकोंमें तथा मान और अपमानमें, जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियां अच्छी प्रकार शान्त है, अर्थात् विकाररहित हैं ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक प्रकारसे स्थित है, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञान तथा विज्ञान-पूर्ण जो हो कूटस्थ, जितेन्द्रिय, पार्थ ! ।
मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण एक-सा जो जाने सो युक्त यथार्थ ॥ ८ ॥

और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है अन्तःकरण जिसका तथा विकाररहित है स्थिति जिसकी और अच्छी प्रकार जीती हुई है इन्द्रियां जिसकी तथा समान है मिट्टी पत्थर और सुवर्ण जिसके वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्की प्राप्तिवाला है ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद, मित्र, मध्यस्थ, बन्धुसे, उदासीन, रिपुसे न द्वेष ।
साधु, दुष्टमें सम मति जिसकी वही पुरुष है योग्य विशेष ॥९॥

और जो पुरुष सुहृद, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओं में और पापियोंमें भी समान भाववाला है वह अति श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी चित्तजयी एकाकी, करे सदा एकान्तनिवास ।
तजकर आशा, संग्रह सारे, करे निरन्तर योगाभ्यास ॥ १० ॥

इसलिये उचित है कि, जिसका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, ऐसा वासनारहित और संग्रहरहित योगी अकेलाही एकान्त स्थानमें स्थित हुआ निरन्तर आत्माको परमेश्वरके ध्यानमें लगावे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

योगी अपने आसनको स्थिर करे देख सम, पावन देश ।
प्रथम कुशा, कुशपर मृगछाला, उसपर डाले वस्त्र विशेष ॥ ११ ॥

कैसे कि शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं, उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसनको, न अति ऊंचा स्थिर स्थापन करके ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

मनको कर एकाग्र, रोककर चित्त और इन्द्रिय-व्यापार ।
आतम-शुद्धि-हित उस आसनपर जचकर साधे योगाचार ॥ १२ ॥

और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किया हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

धड़को, शिरको, ग्रीवाको फिर रख सीधी सुस्थिर होकर ।
दृष्टि नाकके अग्रभागमें जमा, न देखे इधर उधर ॥ १३ ॥

उसकी विधि इस प्रकार है, कि काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिकाके अग्रभागको देखकर अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

शान्तचित्त हो ब्रह्मचर्य-व्रत रखता हुआ निडर होकर ।
मन संयम कर, मुझमें चित दे युक्त बने होकर मत्पर ॥ १४ ॥

और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला और सावधान होकर, मनको वशमें करके, मेरेमें लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे ॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

नियत-चित्त जो योगी ऐसे सन्तत रहता योगासक्त ।
मुझमें स्थित, निर्वाण-रूपिणी शान्ति वही पाता है भक्त ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी, मेरेमें स्थितिरूप परमानन्द परा-काष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अति खानें, भूखे रहनेसे या अति सोनेसे भी, पार्थ !।
अथवा अति जगते रहनेसे योग सिद्ध हो नहीं यथार्थ॥ १६॥

परन्तु हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वालेका सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न अति शयन करनेके स्वभाववालेका और न अत्यन्त जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

हो आहार, विहार युक्त सब, और युक्त ही हों सब कार्य ।
सोना, जगना, भी परिमित हो, दुख-हर योग तभी हो आर्य !॥१७॥

यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार और बिहार करनेवालेका तथा कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य शयन करने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यह संयत मन आत्माहीमें स्थिरतासे होता जब युक्त ।
और कामना सब हट जाती पुरुष 'कहाता' है तब युक्त ॥१८॥

इस प्रकार योगके अभ्यास से अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त, जिस कालमें परमात्मामें ही भलीप्रकार स्थित हो जाता है, उस कालमें संपूर्ण कामनाओंसे स्पृहारहित हुआ पुरुष, योगयुक्त ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

ज्यों निर्वात स्थानमें दीपक-ज्योति सदा रहती, अभ्राम्य ।
चित्त नियत कर योग साधते, योगीका वैसा है साम्य ॥१६ ॥

और जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है ॥ १६ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

संयत होकर योग युक्तिसे लेता चित्त जहां विश्राम ।
जहां तुष्ट होकर आत्मामें आत्माको देखे अविराम ॥ २० ॥

और हे अर्जुन ! जिस अवस्थामें योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमेश्वरके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ, सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट होता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

इन्द्रियगणसे-परे बुद्धिसे यह अनन्त सुख जाना जाय ।
और जहांपर तत्वज्ञानसे निश्चलता इसको आ जाय ॥ २१ ॥

तथा इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे नहीं चलायमान होता है ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

पाकर जिसे लाभ फिर जगमेंअधिक नहीं माने कुछ और ।
जिसमें स्थित हो विचलित होता कभी न पाकर दुख भी घोर ॥२२॥

और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

उसको जान योग-संज्ञक तू सकल दुखों से रहित नितान्त ।
साधन करने योग्य वही है निश्चय मनको करके शान्त ॥२३॥

और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है; उसको जानना चाहिये, वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चय पूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्पोंसे होनेवाली सभी वासनाएँ तब छोड़ ।
सकल इन्द्रियोंको फिर मनसे सभी ओरसे लेवे मोड़ ॥२४॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली संपूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्ति सहित त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।२५।

धीरे धीरे धैर्य-बुद्धिसे मनको करे आत्म-संयुक्त ।
हो उपराम, चित्तको कर दे अन्य विषय चिन्तनसे मुक्त ॥२५॥

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त होवे

तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मा में स्थित करके, परमात्मा के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यह मन अस्थिर अति चञ्चल फिर जहां जहांसे करे निकास ।
वहां वहाँ से रोक इसे, वश करके लावे आत्मा-पास ॥२६॥

परन्तु जिसका मन वशमें नहीं हुआ हो उसको चाहिये कि, यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस उससे रोककर बारम्बार परमात्मामें ही निरोध करे ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जो रजसे है रहित, शान्त मन ब्रह्मभूत भी, है निष्पाप ।
उस योगीको वह उत्तम सुख मिल जाता है अपने आप ॥२७॥

क्योंकि जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगीको अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

योगाभ्यास निरन्तर ऐसे करनेवाले योगी लोग ।
पाप रहित हो ब्रह्म-स्पर्शके अति सुखका करते उपभोग ॥२८॥

और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्द को अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगयुक्त सम-दर्शी मानव लगे देखने यों सर्वत्र ।
सब जीवोंमें मै हूं, मुझमें हैं सारे प्राणी एकत्र ॥ २९॥

और हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभाव से स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको संपूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ संसारको अपने अन्तर्गत संकल्प के आधार देखता है वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो नर देखे मुझको सबमें स्थित, मुझमें सबको भरपूर ।
वह जन मुझसे दूर नहीं है मैं भी उससे रहूं न दूर ॥ ३० ॥

और जो पुरुष संपूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरे में एकीभाव से स्थित है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो एकत्व-बुद्धिसे मुझको भजता सब जीवोंमें जान ।
करता हुआ कार्यभी सारे वह मुझमें ही रहे निदान ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जो पुरुष एकीभाव में स्थित हुआ संपूर्ण भूतों में आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब-प्रकार से बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभव में मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

जो औरोंके सुख वा दुखको समझे निज सुख-दुःख समान ।
हे भारत ! वह निःसंशय ही होता योगी सर्व प्रधान ॥३२॥

और हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सादृश्यतासे संपूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

साम्य-बुद्धिसे प्राप्य योग यह जो बतलाया तुमने तात !
मनकी चंचलताके कारण मुझे हो रहा अस्थिर ज्ञात ॥ ३३ ॥

इस प्रकार भगवान् के वाक्योंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मधुसूदन ! जो यह ध्यानयोग आपने समत्वभावसे कहा है, इसको मैं मनके चञ्चल होनेसे बहुत काल तक ठहरनेवाली स्थितिको नहीं देखता हूं ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४॥

क्योंकि कृष्ण ! यह मन चंचल है, दृढ़ है, हठी और बलवान ।
इसका निग्रह वायु-सरीखा दिखता मुझको कठिन महान ॥३४॥

क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुकी भांति अति दुष्कर मानता हूं ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अर्जुन ! मन चञ्चल है इसका निग्रह करना कठिन अवश्य ।
किन्तु पार्थ ! अभ्यास तथा बैराग्य कियेसे हो यह वश्य ॥३५॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले; हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारंवार यत्न करने से और बैराग्यसे वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये ॥३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

चंचल मनवाले मानवको मेरे मतसे दुर्लभ योग ।
मनको वश रख, यत्न कियेसे इसे प्राप्त करते हैं लोग ॥३६॥

क्योंकि मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है, अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चालितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

विचलित हुआ योगसे अनियत मनवाला श्रद्धाके साथ।
योगसिद्धिको प्राप्त न कर फिर किस गतिको पाता हे नाथ! ॥३७॥

इसपर अर्जुन बोला, हे कृष्ण! योगसे चलायमान हो गया है मन जिसका, ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत् साक्षातकरताको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

ब्रह्म-मार्गसे अज्ञ निराश्रय उभय ओरसे होकर भ्रष्ट।
छिन्न-भिन्न बादल-समान वह फिर क्या हो जाता है नष्ट? ॥३८॥

और हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओर अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगोंसे भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

कृष्ण! चाहिये तुम्हें मेटना यह मेरा ऐसा सन्देह।
तुम्हें छोड़ है कौन दूसरा, जो मेटें इसको सस्नेह ॥३९॥

हे कृष्ण! मेरे इस संशयको संपूर्णतासे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

अर्जुन ! उभय लोकमें उसका कभी नहीं होता है नाश ।
क्योंकि सुकृत करनेंवालेके दुर्गति नहीं फटकती पास ॥४०॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! उस पुरुषका, न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कोई भी शुभ कर्म करनेवाला अर्थात् भगवत्-अर्थ कर्म करनेवाला दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

स्वर्गादिक लोकोंको पाकर वर्षोंतक, रह वहां प्रसन्न ।
पावन श्रीमानोंके घरमें योगभ्रष्ट होता उत्पन्न ॥ ४१ ॥

किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुन्यवानों के अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक वास करके शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरूषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

या लेता है विज्ञ योगियोंके ही कुलमें वह अवतार ।
इस प्रकारका जन्म लोकमें अति दुर्लभ है पाण्डुकुमार ! ॥४२॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहां जन्म ले पूर्व-जन्मकी मतिको पाकर वह नर-रत्न ।
उससे अधिक सिद्धि पानेका करता रहता अधिक प्रयत्न ॥४३॥

और वह पुरुष, वहां उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके संयोगको अर्थात समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्वाभ्यासयोगके बलसे उसी ओर झुक कर लाचार ।
योग-सिद्धिका इच्छुक होकर जाता शब्दब्रह्मके पार ॥४४॥

और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवतकी ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

यत्न-सहित वह योगाभ्यासी जन्म अनेकोंके पश्चात ।
सब पापोंसे विमुक्त होकर उत्तम-गति पाता अचिरात ॥४५॥

जब कि इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परम-गतिको प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है कि अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ और अतिप्रयत्नसे अभ्यास करनेवाला योगी संपूर्ण पापोंसे अच्छी प्रकार शुद्ध होकर, उस साधनके प्रभावसे परमगतिको प्राप्त होता है अर्थात परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिकोयोगीज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगीतस्माद्योगीभवार्जुन ॥४६॥

तपस्वियोंसे, विवेकियोंसे, और कर्म-निष्ठोंसे वीर ! ।
योगी ही उत्तम माना है, इससे योगी हो रणधीर ॥४६॥

क्योंकि योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करनेवालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

जो श्रद्धायुत होकर मानव मुझको भजता धरकर ध्यान ।
सकल योगियोंमें मैं भारत ! उसको समझूँ युक्त महान ॥४७॥

और हे प्यारे ! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरेको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयम-
योगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

मुझमें मन दे, मम आश्रय ले, करता हुआ योग तू वीर ! ।
जैसे निःसंशय तू मुझको जानेगा, सो सुन रणधीर ! ॥ १॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान बोले, हे पार्थ ! तू मेरेमें अनन्यप्रेमसे आसक्त हुए मनवाला और अनन्यभावसे मेरे परायण योगमें लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा उसको सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

कहता हूँ विज्ञान-सहित मैं पूर्ण ज्ञान वह तुझको तात ।
शेष जाननारहे न जगमें जिसे जाननेके पश्चात ॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस रहस्यसहित तत्त्वज्ञानको संपूर्णतासे कहूंगा, कि जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

पुरुष हजारोंमें कोई-सा यत्न सिद्ध-हित करे सुजान ।
उन सिद्धोंमेंसे भी कोई पाता मेरा सच्चा ज्ञान ॥ ३ ॥

परन्तु हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही

पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

भू, जल, अग्नि वायु, पंचम नभ, अहंकार, मन, बुद्धि-पदार्थ ।
ऐसे आठ प्रकार प्रकृति यह भिन्न हुई है मेरी पार्थ ! ॥४॥

और हे अर्जुन ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार भी ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति हैं ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

यह है अपार प्रकृति वीरवर इससे भिन्न 'परा' को जान ।
जीवभूत है, जिससे सारा यह जग ठहरा हुआ महान ॥ ५ ॥

सो यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरीको मेरी जीवरूप परा अर्थात चेतन प्रकृति जान, कि जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

इस जगके ये सारे प्राणी हैं इन दोनों से उत्पन्न ।
मैं सब जगको पैदा करता मैं ही करता हूँ उत्सन्न ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! तूं ऐसा समझ, कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पत्तिवाले हैं और मैं संपूर्ण जगतका उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूँ अर्थात संपूर्ण जगतका मूल कारण हूं ॥ ६ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी इस दैवी त्रिगुणात्मक मायाका दुस्तर विस्तार ।
जो मेरे शरणागत आते वे होते हैं इससे पार ॥ १४ ॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

मायासे हतज्ञान नराधम करते जो दुष्कृत पर्याप्त ।
आसुर-भाव निवद्ध मूढ़ वे होते नहीं शरणको प्राप्त ॥ १५ ॥

ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरीस्वभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग तो मेरेको नहीं भजते हैं ॥१५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

चार भाँतिके पुण्यवान जन मुझको भजते हैं, हे वीर ! ।
आर्त, ज्ञान-इच्छुक, धन-कामी, चौथा ज्ञानी जन गम्भीर ॥१६॥

और हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मेरेको भजते हैं ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

इनमें उत्तम नित्ययुक्त है ज्ञानी रखे भक्ति उद्देश।
क्योंकि मुझे ज्ञानी प्यारा है मैं प्यारा हूँ उसे विशेष ॥१७॥

उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्यप्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि मेरेको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

हैं ये उत्तम सभी भक्त पर ज्ञानी मेरा आत्मा मान।
मन देता शरणागत होता, सर्वोत्तम गति मुझको जान ॥१८॥

यद्यपि यह सब ही उदार हैं अर्थात् श्रद्धा सहित मेरे भजनके लिये समय लगानेवाले होनेसे उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मेरेमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहु जन्मोंके अन्त जन्ममें, ज्ञानी यों भजता मतिमान।
'जो कुछ है सब वासुदेव है, पर ऐसा नर दुर्लभ जान ॥१९॥

और जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मेरेको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भिन्न-भिन्न कामोंमें फँसकर निज निज भिन्न प्रकृति अनुसार।
जुदे जुदे रख नियम, अन्य ही देवोंका लेते आधार ॥२०॥

और हे अर्जुन ! जो बिषयासक्त पुरुष हैं वे तो अपने स्वभावसे प्रेरे हुए तथा उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट हुए उस-उस नियमको धारण करके अर्थात् जिस देवताकी पूजाके लिये जो-जो नियम लोकमें प्रसिद्ध है उस-उस नियमको धारण करके, अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो जो जिस जिस देव-मूर्तिको श्रद्धा-सहित पूजता तात !।
उसकी श्रद्धाको उसही में स्थिर कर देता हूं अचिरात ॥२१॥

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूं ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

उस श्रद्धासे युक्त हुआ वह उसी देवको भजे हितार्थ।
उससे वह इच्छित फल पाता मेरे रखे हुए ही पार्थ ! ॥२२॥

तथा वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त हुआ उस देवताके पूजनकी चेष्टा करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

पर ये अल्पबुद्धिवाले नर होते नश्वर फलमें सक्त ।
देव-भक्त देवोंको पाते मुझको पाते मेरे भक्त ॥ २३ ॥

परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, शेषमें वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

उत्तम अव्यय मम स्वरूपको नहीं जानकर मूढ़ महान ।
मुझको, जो अव्यक्त महा हूँ, व्यक्त हुआ लेते हैं मान ॥२४॥

ऐसा होनेपर भी सब मनुष्य मेरा भजन नहीं करते, इसका कारण यह है कि बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं ऐसे अविनाशी परम भावको अर्थात् अजन्मा, अविनाशी हुआ भी अपनी मायासे प्रकट होता हूं ऐसे प्रभावको तत्वसे न जानते हुए मन, इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भांति जन्मकर, व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते है ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।२५।

मैं स्वयोगमायासे आवृत प्रगट नहीं होता, हूं गूढ ।
मैं अज हूं अव्यय हूं ऐसा नहीं जानते हैं वे मूढ ॥२५॥

तथा अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूं, इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य जन्म रहित, अविनाशी परमात्माको तत्वसे नहीं जानता है अर्थात् मेरेको जन्मने मरनेवाला समझता है ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हुए और जो हैं, जो होंगे उन सबका है मुझको ज्ञान।
पर न किसी भी जनको मेरा ज्ञान यथार्थ हुआ, सच जान॥२६॥

और हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूं, परन्तु मेरेको कोई भी श्रद्धा, भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता है॥२६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ २७॥

इच्छा और द्वेषसे जो कुछ होते हैं सुखदुःख पदार्थ।
उससे मोहित हो जाते हैं जगमें सब प्राणी, हे पार्थ! ॥२७॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुखदुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं। २७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥२८॥

पर अति पुण्यवान मानव जो हो जाते पापोंसे मुक्त।
द्वन्द्व-मोहसे रहित हुए वे भजते मुझको दृढ़ता-युक्त॥ २८॥

परन्तु निष्काम भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे रागद्वेषादि द्वन्द्वरूप मोह-से मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मेरेको सब प्रकारसे भजते हैं॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

मेरे आश्रित करे कर्म जो जन्म-मृत्यु छुटनेका पार्थ।
परम ब्रह्म, अध्यात्म और सब कर्म जान लें वही यथार्थ॥२९॥

और जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष ब्रह्मको तथा संपूर्ण अध्यात्मको और संपूर्ण कर्मको जानते है ।। २६ ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

मुझको जो अधिभूत और अधिदेव तथा अधियज्ञ महान ।
जानें, वे निज अन्तकालमें भी मुझको लेते पहचान ॥३०॥

और जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञ के सहित सबका आत्मरूप मेरेको जनते हैं अर्थात जैसे भाफ, बादल, धूम, पानी और बर्फ यह सभी जलस्वरूप हैं वैसे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि सब कुछ बासुदेवस्वरूप हैं, ऐसे जो जानते है, वे युक्त चित्तवाले पुरुष अन्त कालमें भी मुझको ही जानते हैं अर्थात प्राप्त होते हैं ॥३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञान-
योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

ब्रह्म कौन ? अध्यात्म कौन है ? और कौन है कर्म तथैव ? ।
पुरुषोत्तम ! अधिभूत कौन है ? किसको कहते हैं अधिदैव ? ।१।

इस प्रकार भगवानके बचनोंको न समझकर, अर्जुन बोला हे पुरुषोत्तम ! जिसका आपने वर्णन किया वह ब्रह्म क्या है ? और अध्यात्म क्या है ? तथा कर्म क्या है ? और अधिभूत नामसे क्या कहा गया है तथा अधिदैव नामसे क्या कहा जाता है ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

कैसा है अधियज्ञ, कौन है इस शरीर में हे भगवान ? ।
स्थिरमनवाले कैसे तुमको अन्त समय लेते पहचान ? ॥२॥

और हे मधुसूदन ! यहां अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? और युक्त चित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

परमाक्षर है ब्रह्म, वस्तुका मूलभाव अध्यात्म सुजान ! ।
जो जगकी उत्पत्ति वृद्धिको करता है वह कर्म महान ।३॥